शतपथ के दशपथ

(द्वितीय भाग)

लेखक
डा. वेदपाल सुनीथ

प्रकाशक
प्राच्यवैदिकविद्या-अनुसंधान पीठ
तिलोरा. (पुष्कर क्षेत्र), राजस्थान

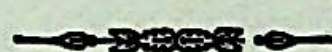
शतपथ के दशपथ

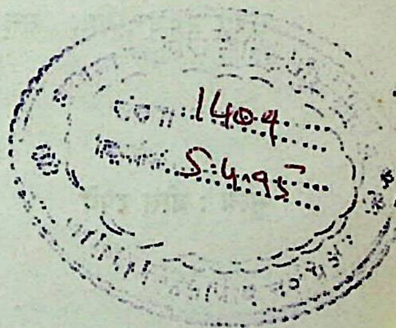
(शतपथ के दश सन्दर्भों का व्याख्यान)

(द्वितीय भाग)

लेखक

डा. वेदपाल सुनीथ





प्रकाशक

प्राच्यवैदिकविद्या-अनुसंधान पीठ

तिलोरा (पुष्कर क्षेत्र), राजस्थान

प्रकाशक—

प्राच्यवैदिकविद्या-अनुसंधान पीठ
तिलोरा (पुष्कर क्षेत्र)
अजमेर (राजस्थान)—३०५०२२

प्राप्ति-स्थान—

- वैदिक पुस्तकालय
  दयानन्द आश्रम, केसरगंज अजमेर
- गुरुकुल महाविद्यालय
  झज्जर, (रोहतक)—हरयाणा

संस्करण : प्रथम, ११००
संवत् २०४९ वि., सन् १९९२ ई.

मूल्य : बीस रुपये

मुद्रक—

सतीशचन्द्र शुक्ल
प्रबन्धक, वैदिक यन्त्रालय
केसरगंज, अजमेर

लेखक के कुछ शब्द

अनेक भद्र पुरुषों के आग्रह पर मैंने कुछ काल पूर्व शतपथ के दश प्रसङ्गों की कथा शैली में व्याख्या लिखी थी। पाठकों ने उस व्याख्या को बहुत रुचि से पढ़ा। अनेक पाठकों ने इसके अन्य भाग लिखने का आग्रह भी पत्रों द्वारा किया। प्रथम भाग का समस्त प्रकाशन व्यय चौधरी चेरिटेबल फाउण्डेशन ने उठाया था। फाउण्डेशन के सञ्चालक पुण्य लक्ष्मीक श्री चौधरी हनुमान्प्रसादजी को यह व्याख्या शैली बहुत पसन्द आई तथा इसके अन्य भागों के समस्त व्ययभार वहन की घोषणा भी की। बहुव्यस्त होने के कारण मैं शीघ्र दूसरे भाग को लिख नहीं पा रहा था, पर श्री चौधरीजी ने मुझे द्वितीय भाग को लिखने की प्रेरणा दी और दश हजार रुपये प्रकाशन हेतु भेज दिये। मैंने लिख कर पाण्डुलिपि वैदिक यन्त्रालय को मार्च में दे दी थी, पर यन्त्रालय की व्यस्तता के कारण विलम्ब होता गया।

शतपथ ब्राह्मण एक विशालकाय तथा जटिल ग्रन्थ है। मन्त्रार्थ को प्रत्यक्ष दिखाने के लिये इस ग्रन्थ में याज्ञिक प्रक्रिया का आश्रय लिया है। याज्ञिक प्रक्रिया के लोप तथा लोक में वैदिक पदों के कुछ रूढ अर्थ ही शेष रह जाने से अन्य वैदिक ग्रन्थों की भांति यह शतपथ भी दुर्बोध ही नहीं अपितु भ्रान्तिजनक भी हो गया। मैंने इस वैदिक विज्ञान के प्रकाशक ग्रन्थ का कुछ विज्ञान प्रकट करने का प्रयास किया है। मेरा यह प्रयास वन रोदन ही होता, यदि चौधरी चेरिटेबल फाउण्डेशन इसके प्रकाशन का उत्तरदायित्व न लेता। अतः इस फाउण्डेशन के सञ्चालक परोपकमूर्ति श्री चौ. हनुमान्प्रसादजी का मैं तथा पाठकगण आभारी हैं। पुण्य लक्ष्मीक श्री चौधरीजी के जीवन की कुछ झलक पाठक प्राप्त करें तथा अपने धन के सदुपयोग की प्रेरणा लें, एतदर्थ मैं उनका संक्षिप्त जीवन वृत्त भी इस भाग के आरम्भ में दे रहा हूँ। अन्त में वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक तथा उनके सहयोगी कर्मचारियों का धन्यवाद करता हूँ कि उन्होंने पूर्ण मनोयोग से मुद्रण कार्य किया। घर की चिन्ताओं से मुक्त कर मुझे वैदिक धर्म की सेवा करने का अवसर प्रदान करने वाली मेरी गृहिणी श्रीमती कमलेश शास्त्री तथा भ्रातृवर्ग का भी मैं अति आभारी हूँ।

वैदिक धर्म का सेवक

—वेदपाल सुनीथ

वन्दनम्

सर्गारम्भे मनुष्याणां कल्याणाय दयानिधिः।
प्राकाशयद्धि यो वेदान् तं वन्दे परमेश्वरम् ॥ १ ॥

यागानां वास्तवं येन श्रौतानामार्ष मेधया।
विवृतं याज्ञवल्क्येन श्रद्धया तं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

तपोविज्ञानपूतात्मा वेदार्थानां प्रकाशकः।
प्रणूयते दयानन्द ऋषिकोटिमुपागतः ॥ ३ ॥

प्रज्ञाबलेन सम्प्राप्य श्रौतमर्थमदात् पुनः।
बुद्धदेवं गुरुं वन्दे मह्यं कारुण्यविग्रहम् ॥ ४ ॥

या हि स्नेहातिरेकेण शिक्षादानपुरस्सरम्।
पालयति स्म माता मे तां नौमि सत्यवत्सलाम् ॥ ५ ॥

नादात् केवलं जन्म धर्ममपि त्वबोधयत्।
तमहं पितरं वन्दे शक्रचन्द्रं* सुधार्मिकम् ॥ ६ ॥

विप्रहि जातमौदार्यं तपो यत्र विराजते।
सर्वानन्दञ्च तं वन्दे यतीन्द्रं मोह वर्जितम् ॥ ७ ॥

सत्प्रेरणा प्रदातारं मम कृतेऽतिवत्सलम्।
ओमानन्दं यतिं वन्दे तपसां देहरूपकम् ॥ ८ ॥

अध्याप्य शब्दशास्त्रं यः श्रुतौ सम्यगवेशयत्।
विवेकानन्दमावन्दे कर्तारं तं कृपां पराम् ॥ ९ ॥

अध्यापिपद् यः शास्त्राणि न्यायादीन्यनुकम्पया।
सुखदेवं हृदा वन्दे तन्तु दर्शनपारगम् ॥ १० ॥

दयानन्दस्य वृत्तार्थं प्रमाणत्वेन तिष्ठति।
तं श्री भारतीयञ्चा,** पिवन्दे करुणाकरम् ॥ ११ ॥

---

* हुकमचन्द्र इति तु अपभ्रंशः।

** श्री डा. भवानीलाल भारतीयम्।

जिनकी पुण्यस्मृति में श्री चौधरी चेरिटेबल फाउण्डेशन
यह ग्रन्थ लोकार्पण करता है—



स्वर्गीया श्रीमती रतनदेवी जी चौधरी
जन्म ५-८-१९२९
स्वर्गवास ७-१-१९८८

प्रेरक जीवन के धनी



श्री चौ. हनुमान् प्रसादजी

(संक्षिप्त परिचय)

राजस्थान के जयपुर मण्डल में एक ग्राम समोद है। इसी ग्राम में श्री चौधरीजी ने अपनी आँखें १९२१ में खोलीं। उस समय जब शिक्षा नगरों में भी सीमित थी, श्री चौधरीजी ने एम. एससी. तक की उच्च शिक्षा प्राप्त करके अपने होनहार होने का प्रमाण प्रस्तुत किया। वे चाहते तो कोई अच्छी राजसेवा प्राप्त कर सुख से जीवन व्यतीत कर लेते पर विशिष्ट पुरुष जीवन गुजारने के लिए धरती पर नहीं उतरते अपितु वे धरतीवासियों को कुछ देने के लिए जीवन धारण करते हैं। श्री चौधरीजी राजस्थान की सूखी तथा व्यर्थ-सी पड़ी पहाडियों में कुछ कर गुजरने के लिए तत्पर हो गये। योगेश्वर कृष्ण की भांति मात्र ४७५ रु. की स्वल्प पूंजी के बल पर वे अपने कुरुक्षेत्र में उतरे थे। बहुश्रम के पश्चात् १९५५ में श्री चौधरीजी ने सफलता-श्री का दर्शन किया। सिरोही की पहाड़ियों में श्री चौधरीजी ने वे दुर्लभ खनिज खोज लिए जिसके लिए देश अमेरिका के आश्रित था। १९६२ के आते तक श्री चौधरीजी अपने उद्योग में पूर्ण सफल हो गये। इस उद्योग से श्री चौधरीजी ने जहाँ देश की सेवा की वहाँ करोड़ों रुपयों का अर्जन भी किया। अर्जित धन को मात्र भोग विलास में ही नहीं लुटाया अपितु उसे उत्तम कार्यों में नियोजित कर उसका सदुपयोग भी किया।

सौभाग्य से श्री चौधरीजी को धर्मपरायणा गृहिणी श्रीमती रत्नदेवीजी का सहचार प्राप्त हुआ, जिनकी प्रेरणा से श्री चौधरीजी ने 'चौधरी चेरिटेबल फाउण्डेशन' की स्थापना की, जिसमें वर्त्तमान में २३ लाख रुपये की स्थिर-निधि विद्यमान है तथा श्री चौधरीजी इसे शीघ्र (दो तीन वर्ष में) ४० लाख की करने के लिए संकल्पवान् हैं। परोपकार मूर्ति श्रीमती रत्न-देवीजी के प्रेरणा से चौधरी चेरिटेबल फाउन्डेशन ने अनेक पुण्य कार्य सम्पादित किए जिनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—

(क) सर्गमाता के मन्दिर का पुनर्निर्माण तथा उसके लिये सीढ़ियों का निर्माण

(ख) पिण्डवाड़ा के शिव मन्दिर की चार दीवारी का निर्माण

(ग) पिण्डवाड़ा उच्चतर विद्यालय में स्टेज तथा एक कमरे का निर्माण

(घ) प्राचीन दुर्गा मन्दिर का पुनरुद्धार

(च) अम्बा माता श्मशान भूमि पर विश्राम गृह का निर्माण।

सत्यार्थ के अध्ययन के पश्चात्

महर्षि दयानन्द के अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के अध्ययन के पश्चात् श्री चौधरीजी ने मूर्तिपूजा को त्याग कर शुद्ध वैदिक धर्म ग्रहण किया। वे आर्यसमाज के साथ जुड़ गये तथा आर्य संस्थाओं को जो अनुदान प्रदान किया उसकी लम्बी सूची है। उसमें से कुछ प्रमुख दान इस प्रकार हैं—

१. उदयपुर आर्यसमाज में सत्सङ्ग भवन का निर्माण

२. आर्यसमाज हिरण मगरी की यज्ञशाला तथा चिकित्सालय का निर्माण तथा चिकित्सा की व्यवस्था

३. निम्बार्क महाविद्यालय उदयपुर में यज्ञशाला का निर्माण

४. आर्ष गुरुकुल आबू में दो कमरों का निर्माण

५. श्री दयानन्द स्मृति न्यास अजमेर में एक कमरे का निर्माण तथा छः हजार रु. भोजन व्यवस्था हेतु

६. आर्ष पद्मिनी कन्या गुरुकुल चित्तौड़ को २१ हजार रुपये दान एवं प्रतिवर्ष ६ हजार का अनुदान

७. आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान को एक लाख रु.

८. गीता रामायण संघ उदयपुर को एक लाख रु.

९. अग्रवाल चेरिटेबल ट्रस्ट को एक लाख रु.।

श्री चौधरी हनुमान प्रसादजी केवल दान दाता ही नहीं अपितु एक उच्च शिक्षा प्राप्त साधनाशील विवेकी व्यक्ति हैं, वे जहाँ आवश्यकता देखते हैं वहाँ स्वयं शीघ्र सहयोग करते हैं। इस वर्ष जब श्री चौधरीजी यहाँ "पाणिनि शाला" के दर्शनार्थ पधारे तो यहाँ पानी की कमी देखकर स्वयं पानी की व्यवस्था करने का आश्वासन दिया और उस दिशा में तुरन्त कार्यवाही शुरू कर दी।

ईश्वरीय विधान के अधीन ७-१-८८ को श्रीमती रत्नदेवीजी श्रीमान् चौधरीजी का साथ छोड़ दिवंगत हो गईं, पर आज भी उनकी प्रेरक तस्वीर श्री चौधरीजी को धर्म कार्य के सम्पादन की शक्ति दे रही है। श्री चौधरीजी ने नोलखा महल (जहाँ महर्षि ने अपना कालजयी ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश लिखा) में वैदिकधर्म के प्रचार प्रसार की एक बड़ी योजना को कार्यरूप देने का संकल्प लिया है, जिसकी पूरी रूपरेखा शीघ्र जनता के सामने आनेवाली है। यह कार्य अभूतपूर्व तथा बहुव्यापी परिणाम वाला सिद्ध होगा। इस सबके अतिरिक्त श्री चौधरीजी नित्य स्वाध्यायी, पवित्र जीवन के धनी तथा उच्चश्रेणी के साधक हैं। हम इनके उत्तम स्वास्थ्य तथा दीर्घायुष्य की कामना करते हैं।

एकादश पथ

यज्ञाग्नि का आधान कहाँ करें ?

महर्षि याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण (वेदव्याख्यान) का प्रवचन आरम्भ किया। प्रवुद्ध शिष्यमण्डली एकाग्र मन से सुनने के लिये उत्सुक थी। श्रद्धातिरेक (श्रद्धा की अधिकता) से मन ज्ञान कणों के ग्रहणार्थ उपयुक्त क्षेत्र सा था। श्रेष्ठ कृषक जैसे उर्वरा (उपजाऊ) भूमि में प्रसन्नचित्त से वीज डालता है उसी प्रकार ऋषि भी उर्वर मनोभूमि में ज्ञानवपन के लिये मुदित (खुश) थे। महर्षि ने मुख खोला और बोले—पवित्र अन्तेवासियो ! यज्ञ (शुभकर्मरूप धर्म) के वितान (फैलाव) का मूल अग्नि अर्थात् मन्त्रों के पवित्रज्ञान से उत्पन्न संकल्पशक्ति (Willpower) है। इस अग्नि के विना कोई छोटा या वड़ा यज्ञ सम्पन्न नहीं होता। अग्नि प्रकाश का देवता है। घनघोर अंधेरे में कुशल एवं सबल व्यक्ति भी कुछ नहीं कर पाता। प्रकाशदीप जला नहीं कि आँखों को राह मिल जाता है, हाथ पैर कार्यपटु हो जाते हैं। यही कारण है लोग प्रकाश में (दिन में) कार्य करते हैं तो अंधेरा होने पर आँख वन्द कर लेते हैं।

धर्मिष्ठा जवाला के श्रद्धालु पुत्र सत्यकाम ने प्रश्न किया —हे आचार्य देव ! जव दीपाग्नि सूर्य या चन्द्रमा का प्रकाश मनुष्य को राह दिखाने में समर्थ है तो फिर मन्त्र प्रोद्भूत ज्ञानाग्नि के आधान की क्या आवश्यकता ?

महर्षि याज्ञवल्क्य गम्भीरता से वोले—हे जावाल (जवाला के पुत्र) तुम्हारा प्रश्न अति महत्त्वपूर्ण है। प्रायः संसार के लोग अपना राह इसी भौतिक प्रकाश के सहारे खोजने में संलग्न देखे जाते हैं। मन्त्र प्रेरणा की अवहेलना कर निज नेत्रों से सुख प्राप्ति का मार्ग ढूंढ़ने में ही व्यक्ति श्रमशील रहता है। परन्तु सदा याद रखो। स्वर्गप्रापक यज्ञकर्म के अनुष्ठान का राह सूर्य, चन्द्र तथा दीप का प्रकाश कभी नहीं दिखा सकता।

देखो ! एक समय की वार्ता (बात) है। वृद्ध ऋषि व्यासमुनि के मेधावी शिष्य जैमिनि धर्ममीमांसा को सूत्रबद्ध करने के लिये उत्सुक हुए। उनके लिये यह निश्चय करना कठिन था कि स्वर्गप्रापक धर्म या यज्ञानुष्ठान के सही ज्ञान की प्राप्ति का मुख्य स्रोत क्या लिखें। वे सबसे प्रथम

मात्र अपने अनुमानजनित ज्ञान पर भरोसा रखने वाला व्यक्ति ठीक उस अंधे के तुल्य है, जो सामने की समभूमि पर हाथ फेर कर सारी धरती को सम (बराबर) समझकर दौड़ पड़ा और गहरे गड्ढे में गिर कर क्लेश-भागी हो गया। बुद्धिवादियों का गर्वगर्भ गिर गया। वे विनय पूर्वक बोले। हे बहुविज्ञानी व्यास के प्रमुख शिष्य! हम नहीं समझ पा रहे कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान से भिन्न कौन-सा ज्ञानस्रोत है जिससे व्यक्ति सदा सुखप्रापक कर्मों का अनुष्ठानबोध प्राप्त कर सकता है।

मेधावी जैमिनी बोले—हे बुद्धिवादियो! चलो वृद्ध गुरु महर्षि व्यास के चरणों में इस प्रश्न के साथ उपस्थित होते हैं। बुद्धिवादी जैमिनि के साथ चल पड़े। ऋषि के चरणों में उपस्थित हुए तथा विनय के साथ ऋषिराज का अभिवादन करके बुद्धिवादियों ने ऋषिराज से पूछा—हे महर्षे! आपके प्रमुख तथा विज्ञानी शिष्य ने सुखपरिणामी कर्तव्यकर्म के बोध में प्रत्यक्ष तथा अनुमानजनित ज्ञान को अकृतकारी बता दिया फिर कर्तव्य तथा अकर्तव्य के बोध का अन्य कौन-सा उपाय है: यह हमारी समझ में नहीं आ रहा। आप तत्त्वदर्शी तथा बहुदर्शी वृद्धमुनि हैं। आपका दीर्घ परीक्षण, वीक्षण एवं अनुभव बहुमान्य है। हम आपकी सम्मति इस विषय में सुनना चाहते हैं।

वृद्ध ऋषि ने गम्भीरता के साथ कहा—बुद्धिवादियो! जैमिनि का यह कथन सर्वथा युक्त है कि प्रत्यक्ष तथा अनुमानप्रमाण धर्म के सूक्ष्म तत्त्व का बोध कराने में समर्थ नहीं। धर्म का (सही कर्तव्य कर्म) बोध केवल प्रभु के पवित्र ज्ञान वेद द्वारा ही हो सकता है। उसका प्रत्येक शब्द धर्म के सूक्ष्म अर्थतत्त्व के साथ नित्य सम्बन्ध वाला है। उसी का ज्ञान सच्चा उपदेश है। वह सदा यथार्थ ज्ञान का प्रकाशपुञ्ज है। मन्त्रज्ञान का कदापि विपर्यय (उलटापन) दिखाई नहीं दिया। वेद का ज्ञान अनुलब्ध-अदृश्य सूक्ष्म अर्थ का भी समीचीन (ठीक-ठीक) बोधक है। वेद स्वयं ज्ञान प्रदीप है। उसके लिए किसी भिन्न दीप की आवश्यकता नहीं। वह स्वतः प्रमाण है। इतना कहकर वृद्धमुनि व्यास ने कहा—

निर्भ्रम ऊर्ध्वबाहुश्च संल्लक्ष्य चिरकालतः।
तत्त्वं ब्रवीमि धर्मस्य वेदा एव निबोधकाः॥[1]

हे बुद्धिवादियो! शताधिक (सौ से भी अधिक) वर्षों के चिन्तन मनन के फलस्वरूप मैं यह तत्त्व की बात पूर्ण विश्वास के साथ कह रहा हूँ कि सही

१. यह श्लोक लेखक का स्वरचित है।

कर्त्तव्य रूप धर्म का ज्ञान कराने वाले केवल वेद हैं। बुद्धिवादियों का सिर ऋषिचरणों में नत हो गया और बोले इस महाज्ञानी, सत्यव्रती, वहुदर्शी, ऋषिराज के वचनों का तिरस्कार करने का साहस कौन कर सकता। जैमिनि ने झटिति अपनी धर्ममीमांसा का सूत्र निश्चित किया—

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्।[1]

अर्थात्—वेद के शब्दों का अर्थ तत्त्व के साथ नित्य सम्वन्ध है। यथार्थ धर्म के बोध का साधन वेद ही है। इसके बोध का विपर्यय कदापि नहीं होता। अदृश्य सूक्ष्म अर्थ तत्त्व का बोधक मन्त्र ही है। बादरायण मुनि का यही मत है, क्योंकि वेद किसी की भी अपेक्षा न रखने वाला स्वतः प्रमाण है।

महर्षि याज्ञवल्क्य इस लम्बी वार्ता को पूरा करके विरत हुये तो सत्यकाम जवाल ने विनयपूर्वक कहा—हे आचार्यवर्य ! हमारी समझ में यह पूर्णतया आ गया कि भौतिक प्रकाश धर्म का मार्ग दिखाने में कृतकारी नहीं। धर्म के वोध के लिये मन्त्रों के ज्ञान का आधान आत्मा में करना आवश्यक है। परन्तु जिस अग्नि का आधान याज्ञिकजन हवनकुण्ड में करते हैं वह भी तो लौकिक है। उस यज्ञकुण्ड की अग्नि से धर्मावबोध का क्या सम्वन्ध है ? वहुत से ऋत्विक् तो इसी कुण्डस्थ अग्नि को अलौकिक देवस्वरूप मन्त्र प्रतिपाद्य अग्नि अपने यजमानों को वताते हैं।

महर्षि बोले—हे विनीत जवाला के पुत्र ! वाह्यकुण्डों में जलने वाली अग्नि सर्वथा लौकिक है। वह मन्त्र प्रतिपाद्य दिव्य अग्नि नहीं है। वेदाध्ययन में शिथिल (ढीले) मूढ ऋत्विक् ही बाह्यकुण्ड में दीप्त अग्नि को मन्त्रोक्त अग्नि प्रचारित करते हैं। ये कर्मकाण्डमुग्ध याज्ञिक सच्चे यज्ञ से सर्वथा दूर हैं। यज्ञ नाम धर्म का, कर्त्तव्य कर्म के अनुष्ठान का है। देखो स्वयं ऋचा इस तत्त्व का गान कर रही है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।[2]

यही तो कारण है व्यास शिष्य जैमिनि ने अपने यज्ञमीमांसाशास्त्र का आरम्भ "अथातो धर्मजिज्ञासा"[3] (अव धर्म की जिज्ञासा आरम्भ करते हैं) कहकर किया है।

---

१. पूर्व मीमांसा १-१-५
२. यजुर्वेद ३१-१६
३. पूर्व मीमांसा १-१-१

विनीत गालव ने प्रश्न किया—हे आचार्य देव ! क्या धर्म तथा यज्ञ शब्द एक ही अर्थ को प्रकाशित करने वाले हैं ?

महर्षि ने उत्तर दिया—विनीत गालव ! वेद का प्रत्येक शब्द भिन्न अर्थ का ही प्रकाश करता है। एक अर्थ के लिये दो शब्दों का प्रयोग वेदवाक् में नहीं होता। धर्म तथा यज्ञ के अर्थों में कुछ भेद है। भूखे को रोटी देना, प्यासे को पानी देना यह धर्म तो है पर यज्ञ नहीं। यज्ञ नाम उस परहित-साधक कर्म का नाम है जो सङ्गठित समारम्भ के साथ किया जाता है। सामुदायिक योगक्षेम के लिये मिलकर जिन कर्मों को किया जाता वही यज्ञकर्म स्वर्गफल का प्रापक है। इस यज्ञकर्म के विना वैयक्तिक शुभ कर्म का अनुष्ठान भी सम्भव नहीं। इसलिये वेदवाक् ने इस धर्म को "प्रथमानि" अर्थात् श्रेष्ठ या उत्तम कहा है। यह उत्तम श्रेष्ठ कर्म विना बलवान् संकल्प के कदापि सिद्ध नहीं होता। यज्ञ संकल्प उद्भावक (उत्पन्न करने वाला) केवल वेद का पवित्र ज्ञान है। वही ज्ञान अग्नि के नाम से वेदों में कहा गया है। इस ज्ञानाग्नि का आधान ही सच्चा अग्नि का आधान है। इस ज्ञानाग्नि का आधान आत्मा के ज्ञानधारक पृथिवी भाग पर किया जाता है। बाह्य यज्ञकुण्ड में जिस भौतिक अग्नि का आधान किया जाता है वह इस आत्मस्थ अग्नि का प्रतीक है। यह भौतिक अग्नि ही आध्यात्मिक अग्नि का सही प्रतीक (बोधक) है। भौतिक अग्नि के विना यथा नेत्र अन्धे हैं ठीक इसी प्रकार पवित्र ज्ञानाग्नि के विना मनुष्य बुद्धि से अन्धा है।

पवित्र अन्तेवासियो ! देखो बाह्य यज्ञ की स्थापना हेतु सर्वप्रथम यज्ञ-वेदि के लिये पृथिवी का शोधन किया जाता है। पूर्व ऋषियों का अनुगमन करते हुये हमने भी शतपथ के अग्न्याधान प्रकरण में लिखा है—

अथ उल्लिखति[१]

अर्थात्—जो गन्दा-सन्दा कुछ भी पृथिवी पर हो उसे प्रथम खोदकर दूर करना चाहिये।

शिष्यगण में से मेधावी कण्वपुत्र ने पूछा—हे आचार्य ! यह वेदिस्थान की शुद्धि का कार्य भी क्या किसी वैदिक भाव का प्रकाश करता है ?

महर्षि याज्ञवल्क्य बोले—मेधावी कण्वपुत्र ! ऋषिप्रोक्त सर्व (सारा) विधान मन्त्रभावों का ही प्रकाशक समझना चाहिये।

देखो हमारे सिर के चार भाग हैं। सबसे नीचे का भाग जहाँ जिह्वा

१. मा. श. २-१-१

की उच्चारणशक्ति का केन्द्र है, वह पृथिवीलोक कहलाता है। उसके ऊपर नासिका स्थान वाला भाग अन्तरिक्षलोक है। उसके ऊपर आँख वाला स्थान द्युलोक तीसरा भाग है। इन तीनों लोकों के ऊपर एक चौथा लोक भी है, वह वालों से ढका लोक स्वर् लोक कहलाता है। इसी का नाम ब्रह्मलोक भी है। यह लोक साधारणजनों से अज्ञात तथा दूर है। अग्नि का आधान पृथिवी-लोक पर किया जाता है। आचार्य जन शिष्यों के इस पृथिवी लोक अर्थात् वाक् में अग्नि की प्रतिष्ठा करते हैं। निरन्तर आहुति देने से यह अग्नि दीप्त होती रहती है और वायु के माध्यम से अन्तरिक्ष में विलीन होकर द्युलोक में प्रतिष्ठित होती है। द्युलोक में आदित्यरूप आत्मा की मननशक्ति (मन) अवस्थित है। मन द्वारा उत्प्रेरित होकर समस्त इन्द्रियां कर्तव्य कर्म में संलग्न होती हैं। तब वह कर्मानुष्ठानरूप सच्चा यज्ञ सम्पन्न होता है। पृथिवी पर अग्नि के आधान के पूर्व यह देख लेना अनिवार्य है कि अविद्याजनित दूषित भाव का गन्द तो कहीं नहीं पड़ा है। यदि ऐसा है तो यज्ञसंकल्प रूप अग्नि की प्रतिष्ठा के पूर्व उस गन्द को निकालना आवश्यक है। अन्यथा अस्थान पर पड़ा ज्ञानामृत भी कदापि सुफल नहीं दे पायेगा। इसलिये हमने ब्राह्मण में आगे लिखा—

तदेवास्या एतदुद्धान्ति।[1]

अर्थात्—इस पृथिवी पर से प्रथम दूषित भाग को ही निकाल कर दूर करता है। ऋषिराज अपना प्रवचन आगे बढ़ाते हुये बोले—पवित्र अन्ते-वासियो! पृथिवी के शोधन के पश्चात् अग्नि की प्रतिष्ठा के लिये अत्यन्त सत्त्वमयी पांच सम्भारों का ग्रहण करना भी आवश्यक है, अन्यथा अग्नि का आधान कृतार्थ करने वाला न होगा।

प्रबुद्ध शिष्य मध्यन्दिन ने पूछा—आचार्यदेव! सम्भार का अर्थ क्या है? याज्ञिक लोग तो जल, सुवर्ण, ऊष, आखुकरिष तथा शर्करा इन पांच पदार्थों को वेदिस्थान पर रख कर कृतकारी हो जाते हैं। इन सम्भार पदार्थों का अर्थ जब इन याज्ञिकों से लोग पूछते हैं तो केवल यह कहकर मौन हो जाते हैं कि ऐसा ऋषियों ने विधान किया है। ऋषिवचनों का पालन करना अभ्युदय का हेतु है। महर्षि बोले—हे शिष्यगण! सौम्य माध्यन्दिन का प्रश्न अतिमहत्त्वपूर्ण है। संकल्पाग्नि के आधारभूत सम्भार क्या हैं? जब तक यह वार्ता (बात) ज्ञात न हो तब तक भला सुवर्णखण्ड आदि पदार्थों के स्थापन का क्या लाभ? याज्ञिक बन्धु ऋषिग्रन्थों का अध्ययन करते तो उन्हें

---

१. मा. श. २-१-१-२

ज्ञात होता कि इन सम्भारों का यथार्थ (सच्चा) अभिप्राय क्या है।

देखो—व्यास शिष्य जैमिनि ने समस्त ऋषिमण्डल के मन्तव्य का प्रकाश करते हुये स्पष्ट लिखा है—

शेषः परार्थत्वात् ।[१]

शेष का अर्थ गौण, अमुख्य, जिसे छोड़ा जा सकता है। जो दूसरे के लिये होता है वह ही गौण कहा जाता है। ये भौतिक जल, सुवर्ण आदि आत्मगत विशेष भावों के प्रकाशनार्थ हैं। अतः ये पर के लिये होने से गौण हैं। मुख्य तत्त्व तो इनसे प्रतीयमान भाव है। मुख्य अर्थतत्त्व अति सूक्ष्म तथा गूढ है। उस गूढ भाव को प्रत्यक्षरीति से प्रकाशित करने के लिये कारुणिक ऋषियों ने इन बाह्य स्पष्टतया दृश्य जलादि का प्रतीकरूप (बोधक रूप) में ग्रहण किया है। इस रीति से सूक्ष्मविज्ञान का ग्रहण साधारण गृहस्थजन भी रुचिपूर्वक कर सकते हैं।

परन्तु खेद है अधिकतर याजक ग्राह्य अर्थ से निरपेक्ष होकर मात्र बाह्यकर्मकाण्ड के अनुष्ठानप्रपञ्च में संलग्न हैं। पुष्कल (बड़ी-बड़ी) दक्षिणाओं के लोलुप ऋत्विक् अपने मूढ यजमानों को शास्त्रोक्त यज्ञफल का प्रलोभन देकर मात्र बाह्य कर्मकाण्ड में लगाये रखते हैं। इस प्रकार पुरातन ऋषियों का अभिप्राय इन याजकों ने सर्वथा तिरोहित कर दिया है। जिसका दुष्परिणाम स्थान-स्थान पर दीख रहा है।

देखो—हमने सुना है। कुछ दक्षिणालुब्ध विप्रनामधारी धृतराष्ट पुत्र दुर्योधन का वैष्णव याग करा रहे हैं।[२] इन मूढ याज्ञिकों को ज्ञात नहीं कि पवित्र वैष्णव याग का तात्पर्य क्या है। वेदि के निमाणार्थ पृथिवी शोधन किया जा रहा है। जल सेचन से उसे पवित्र किया जा रहा है। नाना मन्त्रों के उच्चार के साथ यज्ञ दीक्षा का आडम्बर किया जा रहा है। अरे दक्षिणालुब्ध याजको ! क्या तुमने कभी सोचा कि जिस पृथिवी पर अग्नि का आधान किया जाता हैं, उसका सच्चा ऋषिप्रोक्त स्वरूप क्या है ? ऋषि मण्डल तो ऊर्ध्वबाहु (ऊपर हाथ उठाकर) कह रहा है कि ज्ञानज्योति रूप अग्नि ही सच्चे यज्ञ की साधिका है। उसका आधान अन्तरात्मा में किया जाता है। हे विप्रो यदि तुमने सच्ची ज्ञानज्योति का आधान अपने यजमान की आत्मा में किया होता तो फिर वह ईर्ष्या-द्वेष की कालाग्नि से क्यों जलता ? फिर वह अपने धर्मपरायण भाई पाण्डवों से विद्वेष क्यों करता ? पर केवल यज्ञवेदिका

१. पूर्वमीमांसा ३-१-२
२. देखें महाभारत वन पर्व, अध्याय २५७

पर जल के छींटे दिये। आत्मा में ज्ञान जल की एक बून्द भी नहीं डाली। इसलिये आत्मा पापाग्नि से जल रही है। हमने यह भी सुना कि धृतराष्ट के इस पापी पुत्र ने द्रुपदपुत्री सहित पाण्डवों को क्लेशित करने के लिये उनको वैष्णव महायज्ञ का दर्शन करने के लिये बुलाया था। दूत ने जाकर जब पाण्डवों को धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन के महायज्ञ के दर्शन का निमन्त्रण दिया तो पाण्डव झटिति दुर्योधन के दुर्भाव को ताक गये। 'धर्मराज युधिष्ठिर तो शान्त रहे पर भीम का क्रोध न रुका और ऊर्ध्वबाहु भीम ने कहा— हे दूत ! जाओ और पापी दुर्योधन से कहना—जब हमारे वनवास के तेरह वर्ष पूरे हो जायेंगे, तब हम युद्धरूप महायज्ञ के दर्शनार्थ पहुँचेंगे। उस महायज्ञ में शस्त्र तथा अस्त्रों के संघर्षण (रगड़) से विकराल अग्निदेव प्रकट होगा। उसी महाकालाग्नि में क्रोधपूर्वक पाण्डव धृतराष्ट्र पुत्रों का होम करेंगे।[1]

मेरे बुद्धिमान् शिष्यो ! वेदोक्त पवित्र ज्ञानाग्नि के आधान के बिना समस्त धरती विनाश की ओर बढ़ती जा रही है। धरती पर स्थान स्थान पर काम क्रोध तथा ईर्ष्या द्वेष की प्रचण्ड आसुरी ज्वालाएं धधक रही हैं।

देखो—जिस पृथिवी पर पवित्र अग्नि का आधान किया जाता है, उसका स्वरूप बताया जा चुका है। अन्तःकरण के नीचले भाग में वाक्शक्ति की स्थिति है। यह शक्ति पवित्रज्ञान की धारिका तथा संकल्प की उद्भावक है। इसी शक्ति के बल पर जिह्वा ज्ञान का प्रकाश करती है। इस शक्ति का नाम वेदों में पृथिवी भी है। यह वाक्शक्ति ज्ञानाहुतियों के द्वारा विस्तार को प्राप्त करती है। इसलिए यह पृथिवी कहलाती है। प्राचीन वेदवेत्ता ऋषियों ने स्पष्ट लिखा है—

तामप्रथयत् सा पृथिव्यभवत्।[2]

अर्थात्—जिसको मन्त्रज्ञान के द्वारा विस्तृत किया जाता है वह पृथिवी कहाती है। इस पृथिवी पर यज्ञसाधक पवित्र संकल्प को प्रतिष्ठित करने के लिए पांच सम्भारों की आवश्यकता है। सम्भार का अर्थ है—विविध

---

१. अस्त्रशस्त्र प्रदीप्तेऽग्नौ यदा तं पातयिष्यति।
वर्षात्त्रयोदशादूर्ध्वं रणसत्रे नराधिपः॥१६॥
यदा क्रोधहविर्मोक्ता धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवः
आगन्ताहं तदास्मीति वाच्यस्ते स सुयोधनः॥ महा. भा. वनपर्व २५७-१७

२. मा. श. ६-१-१-२

आचार्यों के चरणों में बैठकर सम्यक् (अच्छी) रीति से संकल्पपूर्वक बहुविध ज्ञान का ग्रहण करना । जब तक पृथिवी स्थान को इन पञ्चविध (पांच प्रकार के) ज्ञानों से युक्त नहीं किया जाता तब तक पवित्र संकल्पाग्नि की स्थायी प्रतिष्ठा नहीं । वे पांच सम्भार हैं—

(१) आप: (जल) (२) हिरण्य—सोना (३) ऊष:—लवण (४) आखुकरिष—चूहे के बिल की खोदी हुई मिट्टी (५) शर्करा—कङ्कर ।

सबसे पहला सम्भार है आप: । 'आप:' जल को भी कहते हैं । यह आप: का स्थूल तथा गौण अर्थ है । 'आप:' शब्द का असली अर्थ है—'व्याप्त करनेवाला ।' आत्मा के पृथिवी स्थान—वाक् को व्याप्त करनेवाला यह भौतिक जल कदापि नहीं हो सकता । अन्त:करणस्थ पृथिवीलोक को व्याप्त करने वाला 'आप:' तो वेदवाक् से प्रवाहित होने वाला पवित्र ज्ञान रस है । ऋषियों के वेदोक्त अभिप्राय को प्रकट करते हुए हमने शतपथ के षष्ठ (छट्ठे) काण्ड में लिखा है—

सोऽपोऽसृज्यत वाच एव लोकात् । वागेवास्य साऽसृज्यत ।[1]

अर्थात्—उस प्रजापति पुरुष ने 'आप:' ज्ञानरस की सर्जना वेदवाणी के मन्त्रों से की । यथार्थ में यह ज्ञानरस वेदवाक् ही थी । ऋषियों के इस वचन का स्पष्ट अभिप्राय है कि हमारी आत्मा में वेदवाक् के ज्ञानरस का ही प्रवाह होना चाहिए अन्य का नहीं । आगे हमने पुन: लिखा—

सर्वमाप्नोद् यदिदं किञ्च । यदाप्नोत् तस्मादाप: ।

इस उत्पन्न हुए ज्ञानरस ने समग्र अन्त:करण को व्याप्त कर लिया इसलिए यह ज्ञानरस 'आप:' कहलाता है । यह भौतिक जल भी भौतिक पृथिवी को व्याप्त करने के कारण 'आप:' कहलाता है । सूखी मिट्टी पर इस जल को डालिये, यह झटिति उसके कण-कण तक पहुंच जायेगा । यज्ञ संकल्प की प्रतिष्ठा के पूर्व पवित्र वेदवाक् के व्याप्तकर्ता ज्ञान रस का आधान अनिवार्य है । इसलिए वेदि के स्थान पर सर्वप्रथम यह जल छिड़कने का कार्य किया जाता है । दूसरा सम्भार है हिरण्य—

हिरण्य का अर्थ लोक में सुवर्ण प्रसिद्ध है । शिष्यमण्डल ! यह लौकिक हिरण्य भी अतिमहत्त्वपूर्ण निर्विकार धातु है । परन्तु असली आत्मा का हितकारी हिरण्य तो निर्विकार ज्ञान ज्योति है । जैसे यह भौतिक सुवर्ण सदा एक रस दीप्तिमान् है निर्विकार है, वैसे सदा आत्मा को प्रकाशित करने वाली

---

१. मा. श. ६-१-१-९

निर्विकार ज्ञान ज्योति को वेद में हिरण्य कहा है। यह आत्मा के लिए अत्यन्त हितकारी है, रमणीय है। इसलिए यास्क मुनि ने अपने निरुक्तशास्त्र में लिखा है—

हितं रमणं भवति ।[1]

अर्थात्—आत्मा में जब इस पवित्र ज्योति का स्थापन होता है तब आत्मा का हितकारी रमण होता है। तब आत्मा सच्चे आनन्द का लाभ करता है। अग्नि विद्या के महान् ज्ञाता शाण्डिल्य ऋषि ने अपने प्रवचनों में इस हिरण्य—निर्विकार ज्ञानज्योति का अर्थ प्रकट करते हुये कहा है—यह हिरण्य देवों का रमणीय कार्य साधक शरीर है। इसके आधान होने पर देवगण (यज्ञ कर्म के साधक दिव्य गुण) मस्त होकर रमण करते हैं। इसलिये सचमुच हिरम्य (निश्चयेन रमण हेतु) को ही हिरण्य कहा जाता है।[2] इस ज्ञानज्योति के लाभ करने पर व्यक्ति का संकल्प (Willpower) सदा अटल रहता है। उसका उत्साह सदा उद्दीप्त रहता है। जिनकी आत्मा में इस ज्ञानज्योति की प्रतिष्ठा नहीं, वह आज संकल्पी है तो कल विकल्पी। आज उत्साही है तो कल उत्साहहीन, आज सत्यनिष्ठ है तो कल मिथ्यावादी। आज ऋत है तो कल अनृत। आज दयावान हैं तो कल निर्दय। आज न्यायशील हैं तो कल अन्यायी पीड़क। इसलिये संकल्पाग्नि के आधान के पहले इस ज्ञानज्योति हिरण्य का आधान करना आवश्यक है। ऋषियों ने इस हिरण्य को अग्नि देवता का साक्षात् रेत (वीर्यशक्ति) कहा है। इस अक्षय ज्ञानशक्ति की उत्पत्ति 'आप:' सञ्ज्ञक ज्ञानरस में शुद्ध ज्ञान के रूप अग्नि के सारभाग वीर्य की आहुति पड़ने से होती है।[3] इस ज्ञानज्योति के प्रकट होने पर मनुष्य अपने धर्म पर सदा अडिग रहता है। फिर उसे बार बार चिताने की आवश्यकता नहीं। उसके यज्ञ-संकल्प के पतन की सम्भावना फिर नहीं रहती।

तीसरा सम्भार ऊष है ऊष का स्थूल अर्थ लवण (नमक) है। परन्तु वेद में ऊष मुख्यरूप से पशु के अर्थ में विद्यमान है।[4] पशु दो प्रकार के हैं। एक उपयोगी दूसरे अनुपयोगी। मनुष्य गाय, घोड़ा, भेड़ तथा बकरी ये वेदोक्त ग्राम्य तथा यज्ञिय पशु हैं। दूसरे नील गाय आदि अयज्ञिय (यज्ञ के लिये अनुपयोगी) आरण्य (जंगली) पशु हैं। जिस व्यक्ति के पास जितने अधिक

१. निरुक्त २-३-१०
२. द्रष्टव्य—मा. श. ७-४-१-१६
३. द्रष्टव्य—मा. श. २-१-१-५-४
४. पशव ह्येवैहे साक्षादेवे —मा. श. २-१-१६

यज्ञसाधक साधन रूप पशु हैं। वह उतना ही अधिक समृद्ध कहा जाता है। ये तो भौतिक पशु हैं। असली यज्ञ कार्य साधक पशु तो मन आदि करण (इन्द्रियां) हैं। हमारे तीसरे लोक में आत्मा की मनन शक्ति रूप मन की स्थिति है। वह मन ही अन्य कार्यसाधक इन्द्रियों को कार्य में लगाता है। यदि ये कार्य साधक मन आदि पशु सवल पुष्ट न हो तो सर्वज्ञान सम्पन्न महान् संकल्पधारी व्यक्ति भी कदापि अपने यज्ञ को सफल नहीं कर सकता। इसलिये इन कार्य-साधक आत्मा के पशुओं की सवलरूप में प्रतिष्ठा करना अनिवार्य है। ये करण शारीरिक रस वीर्य से दीप्त होने चाहिये। जैसे तृप्त बलिष्ठ वैल कन्धे पर जुवा धरते ही दौड़ पड़ते हैं, जैसे परिपुष्ट तेजस्वी अश्व (घोड़ा) असवार के बैठते ही दौड़ पडता है, ठीक इसी प्रकार हमारी इन्द्रियां सबल, सतेज होने पर ही संकल्प की सिद्धि के लिये कार्यतत्पर होंगी। इसलिये ऋषियों ने कहा है—

पशुभिरेवैनमेतत् समर्द्धयति ।
तमनयोर्द्यावा पृथिव्यो रसं मन्यन्ते ।[1]

अर्थात्—यज्ञवेदिका को पशुओं अर्थात् कार्यसाधक शक्तियों से भरपूर करता है। ये पशु पृथिवी तथा द्युलोक के सारभूत रस हैं। पृथिवी नाम शरीर का भी है। समस्त शरीर का सार इन भौतिक इन्द्रियों का उपादान है। द्युलोक ज्ञानप्रकाश का लोक है। उन भौतिक करणों में ज्ञान के रस का जब सञ्चार होता है तब पूर्ण पशु होता है। इस प्रकार ये पशु शारीरिक बौद्धिक रस के संयोग से यज्ञकर्म का साधन करते हैं।

प्रबुद्ध शिष्य कण्वपुत्र ने शङ्का की—हे आचार्य देव ! ऊष का अर्थ लवण (नमक) जब है तो उसका अर्थ 'पशु' ऋषियों ने किस आधार पर कर दिया है ? ऋषि ने सभाधान करते हुए कहा—हे कण्वपुत्र ! यह विचार करो कि लवण रस को ऊष क्यों कहा जाता है ? अभिधान (नाम) निष्कारण कभी नहीं होता। देखो ! ऊष का वास्तविक अर्थ है तीव्रता लाने वाला। यह ऊष रस अपनी तीव्रता से कार्यसिद्धि में बाधक आलस्य प्रमाद का सत्वर (तुरन्त) भञ्जन करके मनुष्य को अपने उद्दिष्ट (Aimed) यज्ञकर्म में प्रवृत्त करता है। इस अर्थ का स्थूल रूप में कुछ अंश लवण रस में भी जब ऋषियों ने दर्शन किया तो उसका नाम भी ऊष रख दिया। यह भौतिक लवण हमारे देह में जहाँ तीव्रता लाता है वहाँ रक्तादि प्रवाह के बाधक तत्त्वों का भञ्जन कर उन्हें शरीर से बाहर निकाल देता है। अतः ऊष शब्द का प्रयोग लवण रस के

१. मा. श. २-१-१-६ ।

लिये भी सर्वथा युक्त है। परन्तु यह अर्थ गौण है। शरीर आत्मा के लिये है, वह पर के लिये होने से गौण है। अतः आध्यात्मिक अर्थ का ही मुख्य स्थान है। इसलिये ऋषियों ने ऊष के मुख्य अर्थ का ही प्रकाश किया है।

चौथा सम्भार आखुकरीष है। प्रबुद्ध शिष्यो ! तुम सब जानते हो कि लोक में चूहे को आखु कहा जाता है। चूहे द्वारा विलनिर्माणार्थ खोद कर निकाली मिट्टी को ही याज्ञिक लोग यज्ञवेदिका में प्रतिष्ठित करते हैं। इस आखुकरीष के वास्तविक अर्थ को जाने विना यह कृत्य (काम) मूर्खचेष्टित सा ही लगता है। देखो ! आखु का असली अर्थ है पृथिवी के सरस भाग को खोद कर अपना घर बना लेने वाला।[1] चूहा इस कार्य में अति निपुण है। यह स्थूल पृथिवी में जहाँ सरस सी मिट्टी देखता है वहाँ झटिति खोद खोद कर अपना घर बना लेता है। यह चूहा इतना चतुर चालाक है कि अपने बच निकलने के कई मुख बना लेता हैं। चूहे का एक नाम मूष भी है। मूष का अर्थ है चुराने वाला। यह अन्नादि पदार्थों को चुरा लेता है। हमारी आन्तरिक यज्ञवेदि स्थान को खोदकर घर बनाने वाले चूहे भी अति चतुर चालाक हैं। वे हैं हमारे भोगात्मक कुविचार। ये कुविचार हमारे रस भाग को चूहों के समान कुतर कुतर कर बाहर फैंकते हैं। इन पापभावरूप चूहों में सब से प्रबल मूषकराज काम है। यह चूहा प्रतिपल सारभाग को कुतरने में सचेष्ट हैं। जब भी हमारी ज्ञान चेतना अलसाती है तुरन्त यह महामूषक अपने पैंने दाँतों का प्रहार कर देता है। जो व्यक्ति ज्ञानसाधना में शिथिल (ढीला) है। उसका यह दुष्ट चूहा महानिष्ट कर डालता है। ज्ञानाग्नि की रुद्र ज्वालाएँ ही इस मूषकराज से व्यक्ति को बचा सकती हैं। इसलिये भगवान् वेद ने आखु (चूहे) का शासक रुद्र देवता को बताया है।[2] ज्ञान की ज्वाला ज्यों ही मन्द पड़ती है। यह चूहा अपना काम कर देता है। मन को सदा पवित्र ज्ञान से युक्त और इन्द्रियों को यज्ञकर्म में संलग्न रखने पर भी यह चतुर चूहा क्षणभर के अवसर में ही कुछ न कुछ करीष (कार्य साधक शक्ति) का खनन कर डालता है। वह उत्खात (खोदी) शक्ति हमारी यज्ञवेदि स्थान से नीचे गिर जाती है। उस बाहर आई शक्ति का पुनः यज्ञवेदि पर प्रतिष्ठित करना अनिवार्य है। जो लोग व्यायाम, प्राणायाम एवं ध्यानादि के द्वारा अपनी बाहर बिखरी शक्ति को पुनः यज्ञार्थ अर्पण करने का उद्योग नहीं करते और उस शक्ति को भोग के गन्दे रास्ते से नष्ट कर देते हैं। उनका अग्नि (सर्वहितसाधक पवित्र संकल्प)

---

१. आङ् पूर्वक खनु विदारणे धातु से आखु शब्द बनता है।
२. आखुस्ते पशुः—यजुर्वेद

निस्तेज होकर एक दिन बुझ जाता है। देखो पुरातन ऋषियों ने करीष को पुरीष कहा है।[1] यह सदा पूर्ति, पुष्टि करने वाला तत्त्व है। ऋषियों ने इसे श्री भी कहा है।[2] इस श्री से विहीन व्यक्ति निस्तेज तथा शोभा रहित हो जाता है। इस सार रस की यज्ञार्थ पुनः पुनः प्रतिष्ठा करने का सुन्दर उपदेश ही इस आखुकरीष नामक सम्भार की प्रतिष्ठा द्वारा दिया है।

अन्तिम पांचवा सम्भार शर्करा है। इसका व्याख्यान करने के लिये प्राचीन ऋषियों ने एक सदा घटित होने वाला इतिहास कहा है। वह इस प्रकार है। प्रजापति पुरुष की दो सन्तान हैं। एक देव तथा दूसरे असुर। इन दोनों में सदा स्पर्द्धा रहती है। देव सोचते हैं पृथिवी के सार रस का उपयोग हम यज्ञार्थ करेंगे। परन्तु असुर इस सार भाग को अपने अधिकार में करने के लिये सदा लालायित रहते हैं। ऐसी स्थिति में बेचारी पृथिवी डावां-डोल रहती है। उसको कभी देव अपनी ओर खींचते हैं तो कभी असुर। जैसे विशाल सरोवर में पड़ा कमल का फूल हवा के झोकों में इधर उधर डोलता है। उसी प्रकार पृथिवी भी देव तथा असुरों के बीच में डोलती है। देवों ने सोचा क्या उपाय किया जाये। कैसे इस भूमि को स्थिरपदा बनाया जाये। कैसे असुरों को इस पृथिवी से निर्भागी करें। जिससे यह पृथिवी निश्चल और ध्रुव हो। अग्नि इस पर सम्यक् प्रतिष्ठा पा सके। अन्त में देवों ने एक उपाय निकाल लिया। उन्होंने इस यज्ञिया पृथिवी को शर्कराओं (कङ्करों) से स्थिर बना दिया। जैसे चमड़े को इधर उधर न सरकने के लिये चर्मकार (चमार) खूटियाँ गाडकर स्थिर कर देता है। उसी प्रकार देवों ने इस पृथिवी को शर्कराओं से स्थिर बना दिया। तब देवों ने स्थिर पृथिवी पर अग्नि का आदान करके असुरों को भाग रहित बना दिया।

शिष्यों में ज्येष्ठ माध्यान्दिन ने पूछा—हे आचार्य देव ! इस इतिहास का रहस्य हमारी समझ में नहीं आया। शर्करा क्या तत्त्व है ? दोलायमान पृथिवी इन शर्कराओं से कैसे स्थिर तथा देवभाग हो जाती है ?

ऋषि ने उत्तर दिया—सुनो ! शर्करा का अर्थ साधारण लोग कङ्कर ही जानते हैं। कङ्कर में कुछ मिट्टी तथा पत्थर का भाग मिला होता है। यह प्रत्यक्षतया मिट्टी से ठोस और मजबूत होती है। इसे चूहे आदि नहीं कुतर सकते। ज्ञान की भी एक दृढ़ एवं अटूट स्थिति है। जिसकी प्रतिष्ठा से

---

१. द्र. मा. श. २-१-१-७
२. द्र. मा. श. २-१-१-६

आत्मस्थ भूमिका दृढ़ हो जाती है। फिर मनुष्य का मन डावां डोल नहीं रहता। देखो शर्करा शब्द में दो क्रिया मिली हैं एक शर् अर्थात् मारना दूसरी कर अर्थात करना। ज्ञान की दृढ़ स्थिति आसुरभावों को मार देती है उन्हें भागहीन कर देती है। यह दृढ़ ज्ञान की प्रतिष्ठा देव भावों को निश्चल तथा ध्रुव स्थान बना कर देती है। जैसे ठोस कङ्करों को वायु के झोके उडा नहीं पाते उसी प्रकार इस शर्करा ज्ञान के उदय के पश्चात् भोगभावों का प्रवल वेग भी व्यक्ति को आकर्षित नहीं कर सकता। तव ही आत्मा में पवित्र यज्ञ कर्म के साधक संकल्प (अग्नि) का आधान फलवान् होता है।

विनयशील सत्यकाम ने पूछा—हे आचार्य देव! कुछ आचार्यों का वक्तव्य है कि इन सम्भारों की प्रतिष्ठा की कोई आवश्यकता नहीं। ये सव तो पृथिवी में प्रथमतः (पहले से) ही विद्यमान हैं।

महर्षि ने कहा। उनका यह कथन कुछ ठीक है। गुरु चरणों में वैठकर विधिवत् विद्यादि गुणों को प्राप्त करने के पश्चात् ही व्यक्ति यज्ञानुष्ठान के संकल्प का आधान करने का अधिकारी होता है। जव उसने सम्पूर्ण पवित्रज्ञान को आत्मगत कर लिया तो फिर इन ज्ञानसम्भारों की क्या आवश्यकता ?

परन्तु प्रवुद्ध अन्तेवासियो! गहन विचार से यही निश्चय होता है कि बहुविद्य भी, सम्पूर्ण वेद का पाठक भी पूर्ण नहीं। यौवन में विषय का आकर्षण अति प्रवल है। अतः पूर्वोक्त ज्ञानसम्भारों के ग्रहण की भूयोऽपि (फिर भी) आवश्यकता है। जैसे नूतन वस्त्र कालान्तर में ही मालिन्य को प्राप्त हो जाता है, वैसे यह आत्मा शीघ्र विषयमल से मालिन्य प्राप्त कर लेता है। अतः वस्त्र के समान इसे पुनः पुनः धोने की आवश्यकता रहती है। थोड़ा सा शैथिल्य (ढीलाई), अणु मात्र सा प्रमाद भी सर्वयज्ञ विनाशी सिद्ध हो सकता है। अतः इन सम्भारों का आधान अग्नि के आधान से पूर्व आवश्यक ही है।

शिष्यों के मुख से निकला—**नम ऋषिभ्यो वेदविदेभ्यः।**

(वेद के ज्ञाता ऋषियों को नमस्कार है।)

॥ इति शम् ॥

द्वादश पथ

देव तथा उनकी तृप्ति से अमृतफल की प्राप्ति

पूर्वाह्ण (सुबेरे) का सुहावना समय है। आश्रम के एक विशाल वटवृक्ष के नीचे वेदिका पर कुशासन पर महर्षि याज्ञवल्क्य आसीन (बैठे) हैं। यज्ञधूम से पूत मन्दसमीर (वायु) वह रहा है। प्रबुद्ध शिष्यमण्डल आज पुनः ऋषि के मुखारविन्द से ब्राह्मण प्रवचन सुनने के लिये उत्सुक हैं। ऋषि ने प्रवचन आरम्भ किया। वे बोले—पवित्र अन्तेवासियो ! वेदों में देवों की बार बार स्तुति गाई है। प्राचीन ब्रह्मादि ऋषियों ने देवों का स्वरूप विस्तार से प्रकाशित किया है। पर लोक में आत्मा का कल्याण करने वाले देवों के यजन का लोप होता जा रहा है। मान पूजा के लिये बड़े बड़े यज्ञों का अनुष्ठान तो स्थान स्थान पर किया जाता है। उनमें घृतादि पदार्थों का होम करके समझ लिया जाता है कि हमने देवों का यजन कर लिया। मन्त्र के अर्थज्ञान से रिक्त (खाली) दक्षिणालोभी ऋत्विक् यजन का चारुफल यजमान को सुनाकर पुष्कलदक्षिणा ले लेते हैं। कर्मकाण्डी ये विप्र याजकों को स्वर्गफल प्राप्ति का मधुर प्रलोभन देकर केवल धन वटोरने की चिन्ता में रहते हैं। स्वर्ग फल का लाभ कब होगा ? जब इनसे कोई यह पूछता है, तो बड़े उत्साहपूर्वक कहते हैं—देवों का यजन कभी निष्फल नहीं होता। शास्त्रों में यज्ञानुष्ठान के वड़े बड़े फल बताये हैं। ऋषि वाक्य कभी अनृत (झूठे) नहीं हो सकते। अग्नि, इन्द्र, वायु, वरुण, रुद्रादि देव आहुतियों से तृप्त होकर यजमान का कल्याण अवश्य करेंगे। देवयजन का फल असन्दिग्ध (Undoubted) है। देवगण यजमान को मरने के पश्चात् स्वर्ग प्राप्त करायेंगे।

परन्तु इन मूढविप्रों से कोई पूछे। किस शास्त्र में लिखा है कि यज्ञ का फल मरने के ही पश्चात् मिलेगा ? ऋषियों ने तो अपने वेद व्याख्यानों में बार बार कहा है कि देवों के यजन का फल सद्य (तुरन्त) यहीं इस जन्म में मिलता है। अरे ! जब तुम्हें दक्षिणा तुरन्त मिलती है तो फिर यजमान को यज्ञ फल अन्य जन्म में कैसे दिला रहे हो। इस वेदविरुद्ध मिथ्या धारणा से

धरती नरक बनती जा रही है। आर्य कुलों के सन्तान दिन पर दिन धर्म से भ्रष्ट होते जा रहे हैं। नाम मात्र के बाह्य कर्मकाण्ड के अनुष्ठान से आत्मा का कुछ भी संस्कार नहीं हो रहा है।

प्रबुद्ध शिष्य माध्यन्दिन ने कहा—हे आचार्य देव ! आपका वक्तव्य सर्वथा सत्य है। सिन्धु देश का राजा वैसे तो वड़े वड़े यज्ञों का अनुष्ठान करता है। पर आर्यमर्यादाओं को इन राजाओं ने सर्वथा तिलाञ्जलि दे रखी है। मन्त्र वाचन हो रहा। साम का गान भी हो रहा है। परन्तु आत्मा नाना मलों से पूरित है। व्यवहार में अनृत (झूठ) का पग पग पर आलम्वन है। मन में विषयभोग की लालसाएँ भरी पड़ी हैं। आचार दूषित है। ऋषि तो स्पष्ट बोधन दे रहे हैं—

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषत् त्यागः शिष्टचारेषु नित्यदा ॥[1]

वेदों का सार सत्य है। सत्य का सार इन्द्रियों को वश में करना है। इन्द्रियों के संयम का सार है त्याग। यह परहित का साधन रूप त्याग कर्म शिष्टों (आर्य पुरुषों) में सदा विद्यमान रहता है।

परन्तु हे आचार्य पाद ! इस सिन्धुदेश के राजा जयद्रथ का आचरण देखो। वह विवाह की इच्छा से शाल्व देश की ओर जा रहा था। वह प्रतापी वृद्धक्षत्र का पुत्र जयद्रथ विशाल सेना के साथ सजा धजा जव काम्यक वन में पहुँचा तो उसकी दूषित दृष्टि द्रुपद की पुत्री पर पड़ी। पतिव्रता द्रौपदी उस समय जंगल की उस कुटी में अकेली थी। वीर पाण्डव अरण्यवासी मुनियों को त्रास देने वाले जानवरों को दूर भगाने चले गये थे। अकेली रानी द्रौपदी को बैठी देख पापी जयद्रथ का विकारवान् मन वश में नहीं रहा। यज्ञों का अनुष्ठाता, मन्त्रवाचन कराने वाला वृद्धक्षत्र का पुत्र परनारी के स्पर्श के पाप को भूल गया। अपने को महाराज रघु और भरत का वंशज मानने वाला जयद्रथ पापाचार में लीन हो गया। सती साध्वी द्रौपदी ने उसे बहुत डांटा। उसे आर्यधर्म का स्मरण कराया। धृतराष्ट्र की पुत्री दुःशाला का पति होने का स्मरण भी द्रौपदी ने जयद्रथ को कराया। पर पापी जयद्रथ पर कुछ असर नहीं पड़ा और रोती बिलखती द्रुपद पुत्री को बलात् अपने रथ पर बैठा कर चल दिया।

महर्षि याज्ञवल्क्य बोले—हे शिष्यो ! उन मूढ ऋत्विजों द्वारा कराये

---

१. महा. भा. वनपर्व २७०–६७

सिन्धु देश के राजा के यज्ञों का फल तो पता नहीं अगले जन्म में भी मिलेगा वा नहीं। परन्तु उसके कुकृत्य का फल पाण्डव वीर अवश्य ही दे दिये होंगे।

विनयोपेत माध्यान्दिन ने कहा ! हे गुरुवर्य ! पाण्डव कुछ ही देर में अपने स्थान पर आये तो वृद्धधौम्य मुनि ने जयद्रथ के नीच कर्मों की कथा सुनाई। वीर पाण्डव जयद्रथ की खोज में दौड़ पड़े। उन्होंने झटिति उग्रक्रोध के साथ सिन्धु नरेश की सेना को घेर लिया। कुन्ती पुत्र भीम और अर्जुन ने कुछ ही काल में अनेकों सेनानायकों के साथ विशाल सेना को मौत के घाट उतार दिया। पृथा पुत्र अर्जुन ने अपने तीक्ष्ण बाणों से भागते हुये जयद्रथ के रथ के घोड़े तथा सारथी को मार गिराया। जयद्रथ के होश उड़ गये। वह सिन्धुनरेश मृत्यु भय से कपकपा गया। परम सुन्दरी द्रौपदी को छोड़ जंगल में भागने लगा। महाबली भीम ने झपट कर उसे पकड़ लिया। भीम की क्रोधा ज्वाला भड़की हुई थी। उसने जयद्रथ को जी भर के पीटा। भीम पापी जयद्रथ को मार कर ही सांस लेने वाला था कि अर्जुन ने कहा—भाई भीम ! यह नीच बहिन दुःशाला का पति है। ज्येष्ठ भाई धर्मराज ने इसे जान से न मारने को कहा है। भीम ने कहा इस पापी ने क्लेश न भोगने योग्य द्रौपदी को त्रास दिया है। अतः इसे जीवित छोड़ने का मेरा मन नहीं करता। अर्जुन ने कहा बहिन विधवा हो जायेगी। इसे मौत के घाट मत उतारो। तब भीम ने आवेश के साथ अर्द्धचन्द्र वाण के द्वारा सिन्धु नरेश के वाल काटकर उसके सिर पर पांच चोटियाँ रख दी।[1] तिरस्कार पूर्वक भीम ने कहा—हे नीच जयद्रथ ! यदि तू जीवित रहना चाहता है तो—सुन !

दासोऽस्मीति वाच्यं संसत्सु च सभासु च।[2]

जहाँ कहीं भी किसी सभा वा गोष्ठी में तू बैठे तो सबसे पहले हाथ जोड़कर कहना कि मैं पाण्डवों का दास हूँ। भीम द्वारा धरती पर घसीटे जाते हुये जयद्रथ ने यह शर्त स्वीकार कर ली। भीम ने जयद्रथ को बांध कर रथ पर डाला और अपने भ्राता श्री धर्मराज के चरणों में डाल दिया। दयालु युधिष्ठिर ने अपनी बहिन का पति होने के कारण जयद्रथ को दासभाव से मुक्त करा दिया। सुना है अब वह लज्जा के मारे न तो शाल्व देश में ही गया तथा न स्वदेश पहुँचा। एक यायावर (घुमक्कड़) मुनि ने बताया कि सिन्धु देश

---

१. एवमुक्त्वा सटास्तस्य पञ्चचक्रे वृकोदरः। अर्द्धचन्द्रेण वाणेन किञ्चिदब्रुवतस्तदा। —महा. भा. वनपर्व २७२-९

२. महा. भा. वनपर्व २७२

के राजा को तो हमने हिमालय में देखा। वह पाण्डवों को पराजित कर देने का आशीर्वाद योगियों से मांगता फिर रहा है। परन्तु किसी भी मुनि ने जयद्रथ को यह आशीर्वाद नहीं दिया।

महर्षि याज्ञवल्क्य उद्वेग (Agitation) के साथ बोले—हे शिष्यगण! यह सब अनाचार, पापाचार सच्चे देवों के यजन न करने का कुफल है। हवि सेवन करने वाले देवों के दो रूप हैं। एक जड़ देव है। दृश्यमान अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी जलादि जड़ देव हैं। जड़ का अर्थ है सुख दुःख की अनुभूति से शून्य, चेतना से विहीन। अतः ये लौकिक अग्नि आदि देव न खुश होते हैं न दुःखी। चेतनाशून्य होने से ये न किसी को दुःख देने की सोच सकते हैं न सुख। इस लौकिक अग्नि में दी जाने वाली घी आदि हवियाँ भी जड़ हैं। ये जड़ होने से जड़ देवों के लिये उपयोगी हैं। इन हवियों के होम से वायु आदि जड़ देवों का शोधन होता है। ये देव जब शुद्ध पवित्र होते हैं तो हमारा शरीर भी स्वस्थ और निरोग रहता है। यह शरीर आत्मा के लिये होने से गौण है। यदि हमारा स्वस्थ नीरोग शरीर आत्मा की उन्नति में सहकारी नहीं बनता तो मनुष्य राक्षस हो जाता है। सिन्धु देश के राजा जयद्रथ का शरीर तो नीरोग था, सबल था। पर वह आत्मोन्नति का सौधन नहीं था। इसलिये सुख के स्थान पर महाक्लेश भोगना पड़ा। आत्मा की कल्याणसाधक देवशक्तियाँ इन जड़ देवों से भिन्न हैं। वे देव अलौकिक तथा अदृश्य हैं। उनको पुष्ट करने वाले घृत, मधु भी अलौकिक हैं। यही सच्चे देव हैं। ये आत्मा के हितसाधक होने से भौतिक देवों से मुख्य हैं। वेदों में इन्हीं देवों का प्रधानता से स्तवन (गुणगान) किया है। इन देवों का प्रादुर्भाव ज्ञान से होता है। ज्ञान का प्रकाश होते ही ये देव शक्तियाँ कार्यरत हो जाती हैं। अतः ये ज्ञान के ही विविधरूप हैं। इन देवों की हवि बाहर के अग्निकुण्ड में नहीं अपितु अन्तरात्मा में स्थित ज्ञानाग्नि के हृदय रूपी कुण्ड में दी जाती हैं। विज्ञानी आचार्य मन्त्रज्ञान का प्रकाश करते हैं और शिष्य उसको अन्तरात्मा में आहूत करते हैं। जैसे भौतिक जड़ देव तथा शरीर को अहरहर (रोज रोज) शोधन की और पोषण की आवश्यकता है, उससे भी अधिक अन्तरात्मा में ज्ञान हवि के प्रक्षेप (डालने) की आवश्यकता है। आचार्य कुल में दीर्घ काल तक इस ज्ञानाग्नि को दीप्त करना पड़ता है तथा फिर स्नातक होने पर गृहस्थ जीवन में भी नित्य उस ज्ञानाग्नि को दीप्त रखने के लिये मन्त्र ज्ञान की हवि डालने की आवश्यकता है। दयालु ऋषियों ने अग्निहोत्रादि यज्ञों की प्रचालना इसलिये कराई थी कि आचार्य कुल से जाने के बाद भी आवश्यक ज्ञान का होम आत्मा

में होता रहे। यही कारण है यज्ञों में मन्त्रों का वाचन अनिवार्य है। और सदा याद रखो! केवल मात्र वाचन ही पर्याप्त नहीं उसके भाव को आत्मगत करना ही सच्चा यज्ञ है।

मेधावी शिष्य कण्वपुत्र ने कहा—हे आचार्य देव! हमने सुना है, देवकी पुत्र श्री कृष्ण ने इन आडम्बरपूर्ण यज्ञों का अति विरोध किया है। उन्होंने स्पष्ट घोषणा कर दी है—

यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।[1]

अर्थात् मन्त्रार्थग्रहण से शून्य आसुरी प्रकृति के लोग दम्भपूर्वक यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं। ये यज्ञ सर्वथा वेद विरुद्ध हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य बोले—हे कण्व के मेधावी पुत्र! वासुदेव कृष्ण का कहना सर्वथा उचित है। देवकी पुत्र ने विधिवत् महर्षि सन्दीपनि के कुल में विद्याग्रहण की है। उनकी आत्मा में सच्चे ज्ञान का प्रकाश है। जब तक आत्मस्थ देवों को हवि नहीं दी जाती तब तक भौतिक देवों का शोधन रूप कार्य विशेष कल्याण का हेतु नहीं हो सकता। जैसे मूल (जड़) के विना पत्ते हरे नहीं रह सकते, सिर कट जाने पर जैसे हाथ पैर किसी काम के नहीं रहते, उसी प्रकार पुष्ट आत्मस्थ देवों के विना स्वस्थ सवल देह, भोग्य पदार्थों का प्रचुर संग्रह भी मनुष्य को कृत-कृत्य नहीं कर सकता। इसलिये ऋषियों ने पुनः पुनः चिताया है कि याज्ञिक क्रियाकलापों के वास्तव को जानो। उसे आत्मा में धारण करो। अहरहर (रोज रोज) आत्मस्थ देवों को ज्ञान हवि से तृप्त करने के उद्देश्य से ही तो ऋषियों ने विविध प्रकार के यज्ञों का अटल विधान किया है। जहाँ आत्मा की देव शक्तियाँ तृप्त पुष्ट हैं, वहाँ अद्भुत गुणों का उदय दृष्टिगोचर होता है।

देखो रघु के प्रतापी वंश में आत्मस्थ देवों के तर्पण की कितनी सुन्दर व्यवस्था थी। प्रत्येक राजकुमार का महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में वास अनिवार्य था। वेदों के पवित्र ज्ञान की प्रतिष्ठा पूर्वक ही उनको अस्त्र शस्त्र की विद्या दी जाती थी। आत्मस्थ देवों के इस तर्पण का सुफल अद्भुत था। इसी देव-शक्तियों की प्रेरणा से देखो भरत राजैश्वर्य के लिये लालायित नहीं हुआ। वह अपने ज्येष्ठ भ्राता को वापिस लाने जंगल की ओर चल दिया। रामभक्त निषादराज ने जब सुना कि कैकेयीपुत्र भरत सेना सहित आ रहे हैं तो उसने

---

१. गीता

सोचा यह श्री राम को मारकर सदा के लिये निष्कण्टक राज भोगना चाहता होगा।

गुह ने पास जाकर भरत से पूछा—हे कैकेयी के पुत्र ! तुम्हारा गंगा पार जाने का उद्देश्य क्या है ? क्या तुम सेनाविहीन मात्र लक्ष्मण सहायी राम को मार कर सदा के लिये अयोध्या के राज को लेने की कामना से गंगा पार जाना चाहते हो ? यदि ऐसा है तो प्रथम मेरे से युद्ध करो फिर आगे बढ़ना।

श्रीराम के अनुज भरत ने रोते हुये कहा—

चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य धीमतः।
धर्मे प्रयतमानस्य को राज्यं मद्विधो हरेत ॥[1]

हे निषादराज ! जिस श्री राम ने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया हो, वसिष्ठ के महाविद्यातीर्थ में जिस श्री राम ने सम्पूर्ण विद्याओं का लाभ किया हो, धर्म में ही जिस श्री राम की प्रवृत्ति रहती हो भला उस पुण्यात्मा श्री राम के राज्य को कौन मेरे जैसा व्यक्ति ग्रहण कर सकता। वसिष्ठ ऋषि ने आगे बढ़कर गुह को बताया—हे गुह ! रघुवंश के इस राजकुमार भरत ने वर द्वारा प्राप्त राज लेने से निषेध कर दिया। अयोध्या का सिंहासन खाली पड़ा है। बहुत कहने पर भी भरत ने अपना अभिषेक नहीं कराया। यह अपने पितृतुल्य भ्राता श्री राम का अभिषेक करने जा रहा है। यह श्री राम को अयोध्या के सिंहासन पर प्रतिष्ठित करने की कामना से शीघ्रता कर रहा है। भरत ने पुनः गुह से कहा—हे निषादराज ! मेरे उस धर्मात्मा भाई के मिलने का मार्ग मुझे शीघ्र बताओ। जब तक मैं उसके चन्द्रतुल्य मुख को नहीं देख लूंगा तब तक मुझे शान्ति कहाँ। हे गुह तूने इस गंगा तीर पर श्री राम का सत्कार करके अवश्य पुण्य लाभ किया होगा। गुह बोला—कैकेयी पुत्र ! मैंने श्री राम के लिये नानाविध भोज्य पदार्थ भेंट किये। परन्तु सत्यव्रती धर्मात्मा श्री राम ने कुछ भी ग्रहण नहीं किया।

भ्रातृवत्सल भरत ने पूछा—हे गुह ! तब मेरे ज्येष्ठ भ्राता ने क्या कहकर भेंट स्वीकार नहीं की।

गुह बोला—सुनो ! श्री राम के मुखकमल से रघुवंश का मानवर्धन करने वाला यह वचन निकला—

---

१. रामायण काण्ड २, सर्ग ८२, श्लोक ११

नह्यस्माभिः प्रतिग्राह्यं सखे देयं तु सर्वदा ।[1]

हे सखे गुह ! हम सर्वस्व त्यागी रघु के वंश में जन्मे हैं । हमने कभी लेना नहीं सीखा अपितु देना ही सीखा है । ये गौरवपूर्ण वचन बोलकर श्री राम ने अपने परम भक्त छोटे भाई लक्ष्मण को कहा—गंगा से जल ले आओ । और जल पीकर ही श्री राम ने वह रात बिता दी ।

कैकेयी पुत्र भरत ने आंसू बहाते हुये पुनः पूछा—हे गुह ! अयोध्या के सिंहासन के एकमात्र अधिकारी मेरे अग्रज (बड़े भाई) श्री राम ने गंगा के इस तीर पर कहाँ रात व्यतीत की ? गुह ने श्री राम की वह तृणशय्या दिखाई, जिसे सुमित्रा पुत्र लक्ष्मण ने स्वयं पत्तों से बनाया था । भरत के मुख से अनायास यह उद्गार प्रकट हुआ—

अद्यप्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा ।[2]

आज से मैं भी भूमि पर या तृणों (घास) पर ही शयन करूंगा ।

निषादराज गुह भरत के इस अद्भुत धर्माचरण को देखकर विस्मित रह गया । वह बोला—

धन्य स्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले ।
अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिच्छसि ।।[3]

हे भरत तुम धन्य हो । धरती पर तुम्हारे समान कोई दूसरा व्यक्ति मुझे दिखाई नहीं देता, जो अनायास प्राप्त राज्य को भी छोड़ना चाहे । हे श्री राम के श्रेष्ठ भ्राता ! आओ गंगा पार उतारने के लिये नौकाएँ तुम भ्रातृवत्सल का स्वागत कर रही है ।

श्री राम तथा भरत के इस उज्ज्वल चरित्र को सुनकर सभी शिष्य चकित थे । जबाला पुत्र सत्यकाम ने कहा—हे आचार्य देव ! ज्ञान से उत्पन्न देवभावों की शक्ति अद्भुत है । उसका प्रभाव विलक्षण है ।

ऋषि ने पुनः कहना शुरू किया—प्रिय अन्तेवासियो ! इसलिये तो ऋचाएँ देवों का गुणगान करती हैं । यजु (यजुर्वेद के वाक्य) इन देवों के यजन को पुनः पुनः प्रेरणा करते हैं । जैसे बिना भोजन के शरीर की स्थिति नहीं, जैसे बिना जल के प्राण सूख जाते है, जैसे बिना वायु के प्राणी स्थिति नहीं

---

१. रामायण २-८२-१६
२. रामायण २-८८-२६
३. रामायण २-८५-१२

पा सकता, वैसे ही ज्ञान रस के आत्माग्नि में होम के विना सब शुभ कर्मों की मूल दिव्य भावनाएं (Divine Imotion) स्थिति नहीं पाती हैं। तब व्यक्ति सत्कर्म छोड़ कुकर्म में प्रवृत्त हो जाता है और वह सर्वनाश को प्राप्त हो जाता है।

हे प्रबुद्ध अन्तेवासियो! ज्ञान के इस आधान कर्म के लिये एक अन्य देव के भी यजन की आवश्यकता है।

विनयशील गालव ने पूछा—हे आचार्यपाद! आत्मस्थ ज्ञानजनित दिव्य भावों से भिन्न और कौन से यजनीय देव हैं? जिनके यजन से व्यक्ति को कल्याण का लाभ होता है।

महर्षि बोले—शिष्य गण! आत्मा का कल्याण करने वाले सच्चे देव दो ही प्रकार के हैं। ऋषियों का स्पष्ट वक्तव्य है—

द्वया वै देवाः। देवा अहैव देवाः।
अथ ये ब्राह्मणाः शत्रूवांसोऽनूचानाः। ते मनुः वदेवाः।[1]

आत्मा के हितसाधक दो ही प्रकार के देव हैं। एक आत्मस्थ वे देव हैं जिनकी प्रेरणा से व्यक्ति श्रेष्ठ कर्म यज्ञ का अनुष्ठान करता है। दूसरे मनुष्य देव वे हैं जिन्होंने वेदों के सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त किया है। जिन्होंने नाना विद्याओं का श्रवण किया है। जो प्राप्त ज्ञान का परहित के पवित्र भाव से उपदेश करते हैं। आत्मस्थ देवों को ज्ञान द्वारा दीप्ति करने वाले ये मनुष्य देव हैं। आत्मस्थ देवों के स्वरूप तथा उनके यजन की विचारणा पर्याप्त हो चुकी। मनुष्य देवों का तर्पण ऋषियों ने इस प्रकार बताया है—

आहुतय एव देवानाम्। दक्षिणा मनुष्यदेवानाम्।
आहुतिभि रेव देवान् पृणाति। दक्षिणाभिर्मनुष्य देवान्।[2]

मस्तिष्कस्थ देवों का यजन उनको ज्ञान की आहुति देना है और मनुष्य देवों का यजन (पूजन) दक्षिणा द्वारा होता है। ज्ञान हवि से, आत्मस्थ शुद्ध देव तृप्त होते हैं तथा दक्षिणाओं से मनुष्य देव (विद्वान् आचार्य) तृप्त होते हैं। ये तृप्त हुये देव क्या सुफल प्रदान करते हैं यह भी ऋषियों ने प्रकट किया है--

---

१ मा. श. २-२-२-६

२. मा. श. २-२-२-६

त एनमुभये देवाः प्रीताः सुधायां दधति ।[1]

जो व्यक्ति इन दोनों प्रकार के देवों को प्रसन्न कर लेता है। उसे ये देव साधु धारण पोषण की स्थिति में प्रतिष्ठित कर देते हैं।

योग्य शिष्य कात्यायनी पुत्र ने पूछा—हे आचार्य देव ! अमृत को भी सुधा कहा जाता है। इसका क्या रहस्य है ?

महर्षि ने उत्तर देते हुये कहा—हे कात्यायनी पुत्र ! लोक में सुधा को अमृत सर्वथा ठीक ही कहा जाता है। विद्वानों की संगत पाकर मनुष्य उन सत्कर्म में प्रवृत्त होता है। जिनका फल अमृत अर्थात् अक्षय आनन्द होता है। सम्मुख रखी थाली में मधुर रसीले पदार्थ रखे हैं। विद्वान् आचार्यों का उपासक ज्ञानवान् व्यक्ति उन पदार्थों में से आवश्यकता के अनुसार ग्रहण करता है। परन्तु अज्ञानी व्यक्ति क्षणिक जिह्वा सुख से मोहित हुआ अधिक अधिक खा जाता है। यद्यपि भक्षण (खाने) के समय में सुख की मधुर अनुभूति हो रही थी। पर यह सुख कितने क्षण का साथी है ? कुछ ही दिनों के जिह्वा-सुखभोग से मधुमेह हो गया। वैद्यों ने सब काल के लिये मीठा न खाने का निर्देश दे दिया।

इसलिये वेद के ऋषियों ने इन्द्रिय सुखों को मृत कहा है। अमृत सुख का लाभ केवल ज्ञान से प्राप्त होता है। मृत इन्द्रिय सुख सदा दुःख परिणामी है तो ज्ञानपूर्वक किये कर्मों का अमृतफल उत्तरोत्तर परिणाम में सुख बढ़ाने वाला है। इस अमृतफल की प्राप्ति केवल ज्ञान के बल से हो सकती है। देखो वेद कितने सुन्दर शब्दों में कह रहा है—

विद्ययाऽमृतमश्नुते ।[2]

अर्थात् विद्या के द्वारा ही अमृत की प्राप्ति होती है। इसलिये विद्या-प्रदाता विद्वान् ब्राह्मण आचार्यों का तर्पण व सत्कार करना चाहिये जिससे वे प्रसन्नचित्त हो पवित्र ज्ञान का दान करते रहें।

तेजस्वी शिष्य पाराशर ने पूछा—हे आचार्य चरण ! ऋषियों ने विद्वान् ब्राह्मणों का महिमा गान इतना क्यों किया ? क्या क्षत्रियों के बिना पृथिवी पर मर्यादा की स्थापना हो सकती है। संसार में थोड़े ही व्यक्ति ऐसे हैं जो विद्वानों की वार्ताएँ (बातें) श्रद्धा से सुनते हैं। उनमें से भी कुछ ही

---

१. मा. श. २-२-२-६
२. यजुर्वेद ४०-१४

जीवन में धारण कर पाते हैं। क्षत्रियों का दण्ड भय ही मनुष्यों को मर्यादा में स्थिर करता है।

महर्षि याज्ञवल्क्य बोले—हे प्रिय पाराशर ! तुम्हारा कथन प्रत्यक्षतः ठीक लगता है। पर सूक्ष्म विचारणा से यह अयुक्त ही सिद्ध होता है। क्षत्र-शक्ति से ब्रह्मशक्ति ही अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावी है। वेद ने ब्रह्मशक्ति को ही प्रथम स्थान दिया है। ऋग्वेद में सबसे प्रथम ज्ञानप्रकाश के देवता अग्नि का ही गुण गाया है। क्षत्र देवता इन्द्र का स्थान उसके पश्चात् ही है। यजुर्वेद में भी सर्वप्रथम प्रकाश के प्रेरणा के देवता सविता देव से विज्ञानरूप अन्न की कामना की गई है। सामवेद में भी सबसे पहले ज्ञानाग्नि का आह्वान किया गया है। अथर्ववेद ने भी सर्वप्रथम वेदवाणी के स्वामी प्रभु का स्मरण किया है। अतः यह ऋषियों का मन्तव्य सर्वथा साधु (ठीक) है कि दण्डशक्ति की अपेक्षा ज्ञानशक्ति अधिक कल्याणकारिणी और प्रभाववती है। देखो ! क्षत्रियों का दण्ड केवल स्थूल शरीर को ही अधर्माचरण से रोक पाता है। जबकि ब्राह्मणों का प्रभावी ज्ञान अन्दर से आत्मा तथा मन को रोकता है। ज्ञानहीन व्यक्ति ज्यों ही दण्ड भय समाप्त हुआ त्यों ही पापाचार में लीन हो जायेगा। फिर गहराई से विचार करने पर पता लगता है कि दण्डधारी क्षत्रियों में ज्ञान न होगा तो क्या वे अपनी शक्ति का सदुपयोग कर पायेंगे। ज्ञान से शून्य क्षत्रिय, क्षत्रिय नहीं अपितु डाकू लुटेरे और दस्यु हो जायेंगे। इसलिये ब्रह्म-शक्ति सर्वोच्च है। देखो ! प्राचीनकाल की एक सुन्दर वार्ता है। यह वार्ता महर्षि गौतम के ज्येष्ठ पुत्र शतानन्द ने श्रीराम को सुनाई थी। जब महर्षि विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण महाराजा जनक की राजधानी में पहुँचे तो महाराजा जनक ने विद्वान् शतानन्द को उनका स्वागत करने भेजा। उसी स्वागत प्रसंग में शतानन्द ने श्रीराम से कहा—हे दशरथ पुत्र ! क्या तुम गाधिपुत्र विश्वामित्र के ऋषि पद पाने की कथा जानते हो। यदि नहीं तो सुनो—

एक बार गाधिपुत्र विश्वामित्र जब राजा थे तो सेना सहित महर्षि वसिष्ठ के प्रख्यात विद्याकुल के समीप से निकले। गाधिपुत्र के मन में महर्षि के पुण्य दर्शन की लालसा हुई। उन्होंने सेना को बाहर ही छोड़कर विनीतवेष से महर्षि वसिष्ठ के महान् विद्यातीर्थ में प्रवेश किया। गाधिपुत्र ने महर्षि वसिष्ठ का यथाविधि अभिवादन किया। महर्षि वसिष्ठ ने आशीर्वाद देकर पूछा—हे गाधि के यशस्वी पुत्र ! आज एकाकी कैसे यहाँ आना हुआ ? विश्वामित्र ने कहा—हे महर्षि ! मैं इधर से सेना सहित जा रहा था कि

आपके पुण्यदर्शन करने की उत्सुकता ही मुझे यहाँ ले आई। विशाल विद्याकुल के अधिष्ठाता महर्षि वसिष्ठ ने कहा समस्त सेनाभृत्य को बुला लो। हे गाधिपुत्र! आज कुलवासी समस्त सेना के साथ आपका आतिथ्य करेंगे। गाधि पुत्र ने विनीतभाव से कहा—हे महर्षे! सेना बहुत बड़ी है। कुलवासियों को आतिथ्य करने में कष्ट होगा। आपका आशीर्वाद ही हम राजाओं का महत्त्वपूर्ण आतिथ्य है। पर महर्षि वसिष्ठ ने आग्रहपूर्वक समस्त सेनाभृत्य को बुलवा लिया। ऋषि ने समस्त सेना के लिये शुद्ध दूध से उत्तम पायस (खीर) बनवा कर परोसी। गाधिपुत्र विश्वामित्र इतने पुष्कल दूध की व्यवस्था देखकर चकित रह गये। उन्होंने विस्मयपूर्वक पूछा—हे महर्षे! इतना दूध कहाँ से लाये। ऋषि वसिष्ठ ने शान्तभाव से उत्तर दिया—हे गाधि-पुत्र! यह रघुवंशियों से संरक्षित विद्याकुल है। नाना देशों के राजकुमार तथा मेधावी विप्र बालक यहाँ विद्याध्ययन करते हैं। हजारों पुष्टगात्र धेनु इस विद्याकुल की गोशाला में सुशोभित हैं। उनमें बहुत गाय द्रोणदुघा (बीस सेर दूध देने वाली) हैं तो बहुत सी शबला जाति की गायें इनसे भी अधिक दूध देने वाली हैं। विश्वामित्र ने उन बहुक्षीरिणी धेनुओं का दर्शन करना चाहा। महर्षि वसिष्ठ गाधिपुत्र को विशाल गोशाला में ले गये। भव्य गोशाला तथा पुष्ट मांसल घटोघ्नी धेनुओं को देखकर गाधिपुत्र अवाक् रह गये। जब बहुक्षीरिणी शबला गायों को विश्वामित्र ने देखा तो वे उन पर मोहित हो गये। विश्वामित्र ने ऐसी गायें कभी नहीं देखी थी। गाधिपुत्र ने कुछ शबला गायों की याचना महर्षि वसिष्ठ से की। महर्षि वसिष्ठ ये कहा—हे गाधिपुत्र! ये गायें विद्याकुल की है। इनको किसी को दिया जाना सम्भव नहीं। गाधिपुत्र ने कहा—हे महर्षे! मैं इनके बदले में यथेष्ट सुवर्ण मुद्राएँ भेंट करूंगा। पर महर्षि वसिष्ठ ने कुल-धेनुओं को देना स्वीकार नहीं किया। विश्वामित्र की बुद्धि धेनुओं के लोभ से मोहित थी, उन्हें आवेश आ गया। गाधिपुत्र विश्वामित्र ने कहा—राजा धरती की सब सम्पदा का स्वामी होता है। मैं कुछ शबला गायों को अवश्य ले जाऊँगा। महर्षि वसिष्ठ ने बहुत समझाया पर गाधिपुत्र नहीं माने। उन्होंने सैनिकों को आदेश दिया, गायों को हांक ले चलो। पर वसिष्ठ की ब्रह्मशक्ति के सामने सारी सेना स्तब्ध हो गई। महर्षि की वाणी से निकले उद्‌बोधन से विश्वामित्र के सब वीर सेनापति तथा सैनिक उनके ही विरुद्ध हो गये। गाधिपुत्र ने बहुत आदेश वाक्य कहे पर कोई सुनने को तैयार नहीं हुआ। यह देखकर गाधिपुत्र का सारा गर्वगर्भ गिर गया। गाधिपुत्र ने सारे अस्त्र-शस्त्र फेंक दिये और उच्च घोष के साथ कहा—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम् ।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे ।।[1]

क्षत्रियों के बल को धिक्कार है। सच्चा प्रभावी बल तो ब्राह्मणों के ज्ञान का बल है। देखो एकाकी ब्राह्मण वसिष्ठ के ब्रह्म दण्ड ने मेरे सारे अस्त्र शस्त्रों को निष्प्रभावी कर दिया। गाधिपुत्र ने फिर दोबारा कभी अस्त्र शस्त्र नही उठाये। वे ब्रह्मतेज की प्राप्ति के लिये जुट गये। लम्बी तपस्या के पश्चात् गाधिपुत्र ने ब्रह्मर्षि का पद प्राप्त कर लिया और विश्वामित्र के नाम से प्रसिद्ध हो गये। आज ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के ब्रह्मतेज के समक्ष सभी राजा और महाराजा नतमस्तक हैं। उनके वचन का तिरस्कार आज कोई क्षत्रिय राजा नहीं कर सकता। उनके पुण्यदर्शनों के लिये बड़े-बड़े राजा लालायित रहते हैं।

उनके भद्रकारी आशीर्वाद की कामना कौन नहीं करता ? श्री राम ने कहा—हे गोतम पुत्र ! यह सर्वथा सत्य है। जब ऋषिराज विश्वामित्र यज्ञरक्षा की कामना से अयोध्या में पहुँचे तो मेरे पूज्य पिताश्री ने सिंहासन को छोड़कर महर्षि विश्वामित्र के चरणों में अपना मुकुट झुका दिया। पिताश्री के मुख से निकला यह वचन भी वृद्ध मन्त्रियों ने सुना—

अद्य मे सफलं जन्म जीवितञ्च सुजीवितम् ।[2]

हे ब्रह्मर्षे ! आज आपके पुण्यदर्शन करके मेरा जन्म सफल हो गया। आज मेरा जीवन सुष्ठु जीवन हो गया।

महर्षि इस लम्बी वार्ता को सुनाकर बोले—प्रबुद्ध अन्तेवासियो ! ज्ञानवान् ब्राह्मणों का प्रभाव अमित है। उनकी शक्ति अद्‌भुत है। देखो वेद इस शक्ति का गान कितनी चारुता से कर रहा है—

तद्वै राष्ट्रमास्रवति नावं भिन्नमिवोदकम् ।
ब्राह्मणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ।।[3]

जैसे टूटी हुई नौका में पानी भर जाता है और फिर वह समुद्र में डूब जाती है उसी प्रकार से वह राष्ट्र दुःखसागर में डूब जाता है जहाँ पर ज्ञान-प्रदाता विद्वान् ब्राह्मण का हिंसन हो, उसके पवित्र ज्ञान के ग्रहण की अवहेलना

---

१. रामायण बालकाण्ड ५६-२३
२. रामायण बालकाण्ड
३. अथर्ववेद ५-१९-८

पापवासना के कारण से होती हो। वह पाप उस राष्ट्र को मार डालता है। इसलिये प्रभु ने बार बार उद्बोधन दिया है—हे धरती वासियो! यदि धरती पर सुख की प्रतिष्ठा चाहते हो तो ब्राह्मण के ज्ञानामृत का कभी तिरस्कार मत करो। अपने परम प्यारे शरीर की जीवनशक्ति अग्नि के ही तुल्य ब्राह्मण को समझो। उसका सदा मान और सत्कार करो।[1] इसलिये ऋषियों ने ठीक ही कहा है--

देवा प्रीताः सुधायां दधति।[2]

तुष्ट हुये देव (विद्वान् ब्राह्मण और आत्मस्थ ज्ञानधारा) मनुष्य को अमृत सुख में प्रतिष्ठित कर देते हैं।

प्रबुद्ध शिष्य माध्यान्दिन ने कहा—हे आचार्य देव! सचमुच ज्ञान का प्रभाव सबसे महान्। इसके अभाव में राजव्यवस्था भी भङ्ग हो जाती है। न्याय पद पर स्थित दण्डदाता पक्षपात करने लगते हैं। ज्ञान प्रकाश ही सचमुच सब सुधारों का मूल है। हम ब्राह्मणों को इसके प्रचार में संलग्न रहना चाहिये। महर्षि बोले—मेरी यही कामना है। यही उद्देश्य है कि ज्ञान का प्रकाश मन्द न हो।

॥ इति शम् ॥

---

१. अथर्ववेद ५-१८-६

२. मा. श. २-२-२-६

त्रयोदश पथः

किनका भाग्यसूर्योदय नहीं होता ?

गली में जोर जोर से ढोल नगाड़े बज रहे हैं। कुछ आदमी धड़-विहीन सिर को बांस पर टांगे हुये हैं। वे अपने बादशाह (पादशास) का जय जय कार कर रहे हैं तो साथ में अपने शत्रु के विनाश की सूचना भी जोर शोर से दे रहे हैं। कुछ लोग यह विचित्र तमाशा देख कर खुश हो रहे हैं तो कुछ आसुओं के विषघूट पी रहे हैं। किसी ने पूछा यह सिर किस अभागे पुरुष का है ? उत्तर मिला शिवाजी के ज्येष्ठ (बड़े) पुत्र शम्भा का। अपने राजा के सिर का जुलूस देखकर मराठे शोक से विह्वल हैं। वे अपने राजा शिवाजी को प्राणों से अधिक प्यार करते थे। उनके आदेश पर हर मराठा बालक युवा और वृद्ध मर मिटने के लिये तैयार रहता था। वीर शिवा के ज्येष्ठ पुत्र के इस बुरे हाल को देखकर उनका हृदय जल रहा है। चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा दिखाई देता है। त्राण (रक्षा) का कोई सहारा नहीं दीखता। जो स्वतन्त्रता का सुखदायी सूर्योदय हुआ था उसे सहसा ग्रहण लग गया। हजारों कष्ट उठाकर, रात दिन घोड़ों की पीठों पर बिता कर, असंख्य बलिदान देकर, भूख प्यास की परवाह न करके वीर शिवा तथा उनके निष्ठावान् साथियों ने जिस सुराज की प्रतिष्ठा की थी। वह उजड़ गया। जिस धर्मदीप को अपने प्राणों से जलाया था। वह बुझ गया। सुख शान्ति और वैभव का जो प्रवाह बहना शुरू हुआ था वह सूख गया। यह भी लोगों को पता लगा कि वीर शिवा के पोते पोतियाँ भी शत्रुओं के हाथ पड़ चुके हैं। हाय ! जब राजपरिवार का यह हाल है तो फिर अन्यों का क्या कहना। कोई सुन्दर कन्या बड़ी हुई नहीं कि उसे विधर्मी बलात् छीन ले रहे हैं। मारणार्थं ले जाता हुआ जैसे बकरी का बच्चा रोता है वैसे आर्य कन्याएँ रोती बिलखती यावज्जीवन महाक्लेश भोगने के लिये विवश हैं। जो अभयजीवन वीर शिवाजी ने अपनी प्रजा को प्रदान किया था वह उनके परलोकवासी होने के कुछ ही काल पश्चात् छिन गया। शिवाजी के वीर सैनिक जिनके देह पर आज भी तलवारों के घावों के निशान स्पष्ट दिखाई देते हैं वे विवश हैं, किंकर्त्तव्यमूढ हैं। कोई राह और उपाय उन्हें नहीं सूझता। अपने राजा के पुत्र का स्वाङ्ग देखकर उनकी आंखों में खून उतर आया है।

एक बालक ने अपने बूढे दादा से पूछा—दादा ! हमारे राजा का यह बुरा हाल क्यों हुआ ? उसका सिर शत्रुओं के हाथ कैसे पड़ गया ? हमारे राजा शिवाजी ने तो बहुत बड़ी सेना बनाई थी। वे सैनिक बड़े वीर योद्धा थे। शत्रु उनसे कांपते थे। क्या उस सेना ने हमारे राजा शम्भा की रक्षा नहीं की ? उन्होंने युद्ध करके शत्रुओं को हराया नहीं। शिवाजी के वीर तथा बुद्धिमान् सेनापति कहाँ चले गये ?

बूढे दादा ने क्लेश भरी आवाज में कहा—बेटा ! हमारे राजा शिवाजी बड़े महान् थे। धर्म सदा उनकी आत्मा में बसता था। वे प्रजा से बड़ा प्यार करते थे। अपने वीर सैनिकों को वे अपने पुत्रों से भी अधिक प्यार देते थे। अपने वीर सेनापतियों को अपना सखा बनाकर रखते थे। महाराज शिवा के प्यार ने सबको जीत लिया था। उन्होंने लड़ाईयाँ राजा बनने के लिये नहीं लड़ी अपितु अपने धर्म तथा देशवासियों की रक्षा के लिये लड़ी थी। शिवाजी संकट के समय सदा आगे रहते थे। इसलिये उनके सैनिक सदा प्राणदान के लिये तैय्यार रहते थे। वे नित्य नये नये दुर्ग जीतते थे। दुश्मन सैकड़ों दुर्गों को छोड़ कर भाग गये थे। पर शिवाजी महाराज की आयु थोड़ी थी। वे शीघ्र परलोकवासी हो गये। शिवाजी महाराज का यह बड़ा लड़का विषयलम्पट था। भोग विलास का रसिक था। धर्मकर्म से हीन और मद्यपायी था। शिवाजी महाराज युद्धों में व्यस्त रहते थे। जब समय मिला तो समझाया भी पर शम्भा की आत्मा मलिन हो चुकी थी वह नहीं माना। शिवाजी महाराज सच्चे धर्मरक्षक थे। धर्मनाशी चाहे उनका पुत्र ही क्यों न हो वे उसे दण्ड देते थे। उन्होंने अपने पुत्र को जेल में बन्द कर दिया था। वे सहसा बीमार पड़ गये। रोज रोज के युद्धों से उनका वज्रदेह जर्जरित हो गया। रात दिन घोड़े की पीठ पर बैठने से उनका शरीर क्षीण हो गया। वे मृत्यु शय्या पर थे कि उन्होंने वीर सेनापतियों तथा मन्त्रियों को बुलाया। वे बोले—मेरे वीर साथियो ! इस धर्म राज की स्थापना न जाने कितने कष्टों के पश्चात् हो पाई है। हजारों वीरों ने इस धर्म राज की नींव को अपने खून से सींचा है। मेरे कितने ही प्राण प्यारे साथियों ने धर्मप्रतिष्ठा के लिये अपने प्राणों को अर्पित कर दिया था। वीर ताना के स्मरण से शिवाजी की आँखों में आँसू भर आये। थोड़ी देर उनका मुख कुछ भी बोल न पाया। फिर बड़े दुःख के साथ वे बोले—हे मेरे प्राण प्यारे साथियो ! मेरा ज्येष्ठ पुत्र शम्भा इस रक्तपालित धर्मतरु की रक्षा नहीं कर सकेगा। विशाल सेना का अधिपति चतुर औरङ्गजेब दिल्ली में अपना सिंहासन मजबूत करने में सफल

हो चुका है। वह अब दक्षिण की ओर चलने वाला है। उस चतुर बादशाह के साथ लड़ना विषयभोगी शम्भा के वश का कार्य नहीं है। तुम इस धर्मकेतु की रक्षा करना। इतना कहते कहते महाराज शिवा परलोकवासी हो गये। उनके मरते ही कोई राजा नहीं रहा। शम्भा अपने पिता का बड़ा पुत्र होने के कारण अपने को उत्तराधिकारी मानता था। उसने मृत्यु का समाचार मिलते ही जेल में ही अपना राज्याभिषेक कर लिया। बुद्धिमान् मन्त्रियों ने महाराज के छोटे पुत्र को राजा घोषित किया। आपस में फूट पड़ गई। कुछ मन्त्री तथा सेनापति शम्भा के साथ हो गये। उन्होंने सोचा था कि राजा बनकर शम्भा ठीक हो जायेगा। पर हुआ सर्वथा उलटा ही। शम्भा ने शिवाजी के अत्यन्त विश्वासपात्र वीर सेनापतियों तथा मन्त्रियों को एक एक करके मरवा दिया। कुछ शम्भा की इस नीचवृत्ति को देखकर भाग गये।

काशी के एक खोटी बुद्धि वाले नीच ब्राह्मण को शम्भा ने अपना मन्त्री बनाया। दोनों सुरा पान तथा स्त्रीभोग में लीन हो गये। कोश खाली हो गया। धन लूटने की इच्छा से शम्भा ने सूरत पर चढ़ाई की पर हार का काला मुंह देखना पड़ा। उसके बाद तो शम्भा और कविकलश दोनों सुरा और सुन्दरी के भोग में निमग्न हो गये। सारी सेना छिन्न भिन्न हो गई। शिवाजी के विश्वासपात्र सेनापति नहीं रहे। विशाल सेना को लेकर औरङ्गजेब महाराष्ट्र में पहुँच चुका था। उसने शम्भा को जिन्दा वा मरा हुआ पकड़ लेने का निर्देश अपने सेनापतियों को दे दिया।

इधर शम्भा नदी तट पर बने अपने भोग महल में मन्त्री कविकलश के साथ रंगरेलियाँ कर रहा था। मद्यपायी शम्भा को अपने शत्रु की कोई परवाह नहीं थी। एक दिन एक मुगल सेनापति ने शम्भा के भोग महल को घेर लिया। कहतें हैं उस सेनापति के पास केवल २०० सैनिक थे। शम्भा और कविकलश डर के मारे एक तलघर में छिप गये। मुगलों ने उन्हें ढूंढ निकाला। उनके बालों को पकड़ कर बाहर खींच लिया। सेनापति ने अपने बादशाह को शम्भा के जीवित पकड़े जाने का सुखदायी समाचार भेजा। बादशाह खुशी से झूम गया। सुना है बादशाह के मन्त्रियों ने शम्भा को न मारने की सलाह दी थी। पर औरङ्गजेब ने कहा—मैं शत्रु को जीवित छोड़ने की भूल नहीं करूंगा। मैंने एक बार शिवा को छोड़ कर कटुफल देख लिया। बादशाह ने निर्दयतापूर्वक पहले शम्भा और कविकलश की जीभ कटवा दी। दूसरे दिन आँख निकलवा ली। तीसरे दिन अङ्गुलियाँ कटवा दी। अगले दिन उनके हाथ कटवा कर कुत्तों को डाल दिये।

छोटा बालक भी अपने राजा की इस दारुण कथा को सुनकर रो पड़ा। एक शम्भा और कविकलश की हत्या की बात नहीं, जगह जगह हत्याएँ होने लगी। रोज रोज घरों को लूटा जाने लगा। सती साध्वी देवियाँ करुण क्रन्दन कर रही हैं। घरों में आग लगाई जा रही है। धन वैभव भूषण (गहने) बलात् छीने जा रहे है। चारों तरफ घोर विपत्तियों की काली आन्धी उठ खड़ी हुई। भाग्य सूर्य का कोई चिह्न दिखाई नहीं देता। इस बीभत्स (Disgusting) दारुण दृश्य को देखकर लोग चकित हैं। शोक के जहरीले घूंट पी रहे हैं। सुदिन के स्थान पर भयङ्कर रात्रि आ गई। प्रकाश के स्थान पर घनघोर तम छा गया। सुखद मधुर हास के स्थान पर करुणक्रन्दन होने लगा।[1]

थोड़ा इधर भी देखिये—यह केकय देश का एक सुन्दर युवक है। यह साधारण युवक नहीं अपितु मत्स्यदेश के राजा का सर्वोच्च सेनापति है। यह महाराजा की पत्नी सुदेष्णा का भाई होने के कारण राजा का बड़ा प्रिय है। बूढ़ा राजा तो नाम का ही राजा है सारा राजकाज यही युवक चलाता है। वह बड़े गर्व से कहता है—

पृथिव्यां मत्समो नास्ति कश्चिदन्य पुमानिह।
रूपयौवन सौभाग्यैश्चानुत्तमैः शुभे ॥[2]

इस विशाल धरती पर मेरे समान कोई सुखी नहीं है। कोई भी रूप, यौवन, सौभाग्य और भोगों में मेरे तुल्य नहीं। हे भद्र मनुष्यो ! क्या तुम इस सुखशाली सुन्दर युवक का नाम जानते हो। लोक में इसका नाम कहीं सुनाई नहीं देता। माताएँ इसके नाम से घृणा करती हैं। कोई अपने पुत्र का नाम इसका नहीं रखती। इस अधम का नाम था कीचक।

राजा विराट की नगरी में एक दिन कोलाहल मचा था। मत्स्य देश के महासेनापति, रानी कैकेयी सुदेष्णा के भाई को किसी ने मार दिया। लोगों ने जाकर देखा एक मद्यशाला में उसका शव पड़ा है। शव क्या है जैसे कोई मांस का ढेर पड़ा हो। सिर पेट में घुसेड़ रखा है। पैर पीठ के पीछे तोड़ कर लगाये हुये हैं। लोग देखकर चकित रह गये। वे कह रहे थे इतने बड़े सेनापति का ऐसा बुरा हाल कैसे हो गया। कुछ दिन के पश्चात् रहस्य खुला

---

१. यह सब विवरण प्रसिद्ध इतिहासकार यदुनाथ सरकार की 'Short History of Aurangjib' के आधार पर लिखा है, द्रष्टव्य पृष्ठ ३०४
२. महाभारत विराटपर्व १४-४

कि इस नीच ने पतिव्रता द्रौपदी को बुरी दृष्टि से देखा था। वह द्रौपदी के रूपभोग के लिये उन्मत हो गया था।

द्रौपदी ने उसे समझाया—हे कीचक ! तुम इस पापपूर्ण भोग की इस नीच कामना को छोड़ दो। मेरी रक्षा एक नहीं पाँच महावीर सदा करते हैं। द्रौपदी ने फिर कहा—हे मूढ कीचक ! तुम उस अबोध बालक के समान हो जो अभी तैरना नहीं जानता और विशाल नदी के अगाध जल में कूद पड़ता है तथा अपने प्राणों से हाथ धो लेता है। द्रौपदी ने बार-बार उसके नीच कर्म के कुफल का बोध कराया। कीचक की बुद्धि पर पापकीच जम गया था। वह बलात् द्रौपदी के रूप लावण्य रूपी अग्नि ज्वाला में पतङ्ग की भांति कूद पड़ा। महा बली भीम को जब यह पता चला तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। उसने नीति पूर्वक कीचक को मद्यशाला में बुला लिया। कीचक रूपभोग की भूख से पीड़ित स्वयं मोह के मूंह में प्रवेश कर गया। द्रुपदकुमारी के कोमल अङ्गस्पर्श के स्थान पर कठोराङ्ग भीम से उसका पाला पड़ गया। उसके सुखभोग का मधुराशादीप सदा-सदा के लिये बुझ गया। कीचक के असंख्य हाथी, घोड़े और काञ्चन मण्डित महलें सदा के लिये छूट गये। नीच कीचक इतना अपकीर्तिभागी हुआ कि आज तक कोई मां अपने बेटे का नाम कीचक रखना पसन्द नहीं करती।

लोग सोचते हैं इस दुःखदायी पतन का कारण क्या है ? मनुष्य अपने इस महाविनाश को क्यों नहीं देख पाता ? वह इन्द्रियों के इस अतिक्लेशप्रद भोग में क्यों फंस जाता है ? क्या बात है कि पढ़ा लिखा व्यक्ति भी सदा दुःखपरिणामी इन्द्रिय भोगों में लिप्त हो जाता है ? अपने विनाश, महा-क्लेश की और अपयश की कामना तो कोई नहीं करता। फिर इनकी कारण-भूत धर्म विरुद्ध इच्छाओं के वशीभूत मनुष्य क्यों हो जाता है ? सचमुच यह यक्ष के प्रश्न के समान एक कठिन प्रश्न है।

एक भद्र व्यक्ति बोला—भाईयों हमने सुनाहै महर्षि याज्ञवल्क्य ने यजुर्वेद का व्याख्यान रूप एक बड़ा ग्रन्थ लिखा है। जिसका नाम ऋषि ने शतपथ रखा है। उस ग्रन्थ में मनुष्य के जन्म से लेकर मरण पर्यन्त की सब समस्याओं का समाधान बताया है। लोग बोले—ऋषि का ग्रन्थ तो संस्कृत में है। हम उसे पढ़ नहीं सकते। शतपथ का विद्वान् भी हमने कोई देखा नहीं। भद्र व्यक्ति बोला—घबराने की बात नहीं। गुरुकुल के एक मेधावी स्नातक ने शतपथ के सार को समझ लिया है। उनकी शतपथ की व्याख्या सुनकर लोग मन्त्रमुग्ध

हो जाते हैं। उनका नाम है पण्डित बुद्धदेव विद्यालङ्कार। लोगों ने वड़ी उत्सुकता से कहा चलो पण्डितजी से पूछते हैं कि मनुष्य जानता हुआ भी, समझता हुआ भी धर्मविरुद्ध लालसाओं के वशीभूत होकर विनाश को, महा-क्लेश को क्यों प्राप्त हो जाता है ?

लोग विनयपूर्वक पण्डितजी के चरणों में उपस्थित हुये और अभिवादन करके अपनी जिज्ञासा उनके सम्मुख रख दी। पण्डितजी ने वड़ी गम्भीरता के साथ कहा—भद्रो ! यह एक जटिल प्रश्न है कि जानता हुआ भी पुरुष दुःख परिणामी भोगों की तरफ क्यों उन्मुख हो जाता है। इस यक्ष प्रश्न का उत्तर महर्षि याज्ञवल्क्य ने वड़े सरल शब्दों में दिया है।

भद्रजन जिज्ञासाभाव से वोले—हे मेधाविन् पण्डित। ऋषि के कल्याणकारी मन्तव्य को हमें सुनाकर कृतार्थ करो। पण्डितजी बोले सुनो—

शश्वद्ध वै नोदियाद् यदस्मिन्नेताम्राहुतिं न जुहोति ।[1]

अर्थात्—निश्चित रुपेण उसका ज्ञान सूर्य उदय नहीं होता जो इस ज्ञान सूर्य के लिये प्रतिदिन आहुति नहीं देते। ज्ञान सूर्य का तेज ज्यों ही मन्द होगा त्यों ही व्यक्ति क्लेशफली भोगों में निमग्न हो जाता है। ज्ञान सूर्य को दीप्त करने के लिये नित्य होम की आवश्यकता है। पण्डितजी ने इतना ही कहा था कि एक भद्र व्यक्ति बोला—हे शतपथ के महान् ज्ञाता विद्वन् ! नित्य होम करने वाले रोज-रोज आहुति देने वाले लोग भी इन्द्रियवशानुगामी देखे जाते हैं। वे भी धर्म विरुद्ध भोगभाव में आसक्त हो जाते हैं।

पण्डितजी ने तेजस्विता के साथ कहा—भद्रो ! ऋषि वाक्य सदा सत्य होते हैं, वे सदा वेद ज्ञान का ही प्रकाश करते हैं। यह सर्वथा सत्य समझो—जो व्यक्ति सूर्य के लिये नित्य होम करता है। वह कदापि धर्म विरुद्ध भोगों में आसक्त नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ सदा उसके वश में रहती हैं देखो ऋषि कितनी विश्वस्तता (Confidentially) के साथ कहते हैं—

अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति प्रजनयत्येवैनमेतत् तेजो भूत्वा भ्राजमान उदेति।[2]

अब देखो जो प्रातःकाल सूर्य के उदय होने से पूर्व ही होम करता है वह निश्चयेन (Certainly) सूर्य को प्रकृष्ट रूप में उत्पन्न करता है। वह

१. मा. श. २-३-१-५
२. मा. श. २-३-१-५

तेजोरूप सूर्य देदीप्यमान होकर उदित होता है। पण्डितजी कुछ गम्भीर होकर बोले—भाईयों ! विद्याहीन लोगों ने ऋषि वाक्यों को ठीक नहीं समझा। वे हवन कुण्ड की बाह्य अग्नि में सूर्य को आहुति देकर अपने को कृतार्थ मान बैठे। ऋषि के वाक्य पर मनागपि (थोड़ा भी) ध्यान इन नित्य होमियों नहीं दिया। ऋषि कहते हैं—आहुतियों के द्वारा सूर्य को प्रकृष्ट रूप से उत्पन्न करता है। भद्रो यह आकाश का सूर्य तो स्वयं ही सदा दीप्तिमान् होकर उदित होता है। वह सारे लोक को अपने प्रकाश से दीप्त करता है। पर सदा याद रखो यह आकाश में चमचमाने वाला सूर्य उदित होकर केवल स्थूल पदार्थों का ही वोध कराता है। सूर्य का तेज व प्रकाश कदापि आत्मा को धर्म के मार्ग का वोध नहीं करा सकता। जिसके विना व्यक्ति सूर्य के चमचमाते प्रकाश में भी पाप के दुःखदायी गर्त (गड्ढे) में गिर जाता है। शिवाजी के पुत्र को सूर्य का यह तेज प्रकाश बोध नहीं करा सका कि शक्तिशाली शत्रु उसकी ओर वढ़ता आ रहा है। यह इन्द्रिय भोग क्षणिक सुख के बदले महाक्लेश का कारण होगा, यह ज्ञान सूर्य और चन्द्रमा नहीं करा सके। रोज सूर्य नूतन तेज को, प्रकाश को लेकर उदित होता था पर भारत के लोगों को हजारों वर्ष तक कोई कल्याण का, स्वाधीनता के लाभ का मार्ग नहीं दिखा सका। धर्म को, उत्थान को, सच्चे उदय को प्राप्त कराने वाला प्रकाश इस लौकिक सूर्य का नहीं होता। इन्द्रियों को सदा वश में कराने का प्रकाश यह आकाश का सूर्य नही देता। वह सूर्य अलौकिक है। साधारणजन भी कहते हैं देव कभी इन आंखों से दिखाई नहीं देते। कल्याणकारी देव अति सूक्ष्म ज्ञान रूप हैं। जिस सूर्य को आहुति देने का निर्देश ऋषि देते हैं वह सूर्य तो हमारे मस्तिष्क में दीप्त होता है। उसी के तेज से आंखें धर्मिष्ठ होकर देख पाती हैं। उसी के प्रभाव से कान धर्मसार को सुनते हैं। उसी के प्रताप से नासिका उत्थान के लिये नित्य श्वास लेती हैं। उसी की प्रेरणा से जिह्वा दैहिक (Phigical) विकास के लिये खाती हैं। उस आत्मीय भानु की द्युति से ही मन शिवसंकल्प को धारण करता है, जिसका यह अन्तः का भानु उदित नहीं हुआ, दीप्तिमान् नहीं हुआ उसका मन फिर वाहर के सूर्य के प्रकाश में दुःखविपाकी भोगों का ही चिन्तन करता है। उसकी आंखें केवल भोग के लिये देखती हैं। फिर व्यक्ति को परस्त्री के देखने में कुछ भी दोष प्रतीत नहीं होता। पापी कीचक के द्रौपदी के रूप जाल में फसने का कारण यही था। उसने वाह्यसूर्य के प्रकाश में द्रुपद पुत्री का रूप लावण्य ही देखा। उसकी बड़ी-बड़ी आंखें उसके कुपरिणाम का कुछ भी बोध नहीं करा सकी। भाईयो ! सदा याद रखो जो व्यक्ति केवल बाह्य सूर्य के प्रकाश पर आश्रित हैं समझो उसका विनाश समीप है। इसकी आंखें

फूट चुकी हैं। उसका कल्याण सूर्य उदय होने वाला नहीं है। इसलिये ऋषि आत्म सूर्य के उदय का उपदेश करते हैं। वेद भगवान् स्वयं इस दिव्य ज्योति का उपदेश करता है—

सूर्यो ज्योति ज्योतिः सूर्यः स्वाहा[1]

यह आत्मस्थ ज्ञान सूर्य ही सच्ची ज्योति है विमल प्रकाश है। फिर सुनो ज्ञान ज्योति ही कल्याण मार्ग का बोधक सच्चा सूर्य है। यह भौतिक सूर्य गौण है। इसका प्रकाश भी गौण है। यह स्थूल पथ का बोधक है। सूक्ष्म धर्म का नहीं। कल्याण के मूल धर्म का बोध कराने वाली ज्योति हृदय में जगमगाती है। मन्त्र में अन्त में कहा—स्वाहा अर्थात् सु—आह—यही सबसे श्रेष्ठ उपदेश है। स्व—आह[2] यह प्रभु ने अपने शुद्ध ज्ञान का प्रकाश किया है। हे मनुष्य यह ज्ञान का प्रकाश तुझे प्रभु ने दिया है। अन्य प्राणियों को नहीं। श्री राम ने इस आन्तरिक ज्ञान ज्योति के सूर्य को उदित किया था। देवकी पुत्र श्री कृष्ण ने इस ज्ञान ज्योति को जगाया था। ऋषि मण्डल इसी ज्ञान सूर्य को नित्य हवि प्रदान करके दीप्त करते हैं। वीर शिवाजी के अभ्युदय का हेतु इसी सूर्य का समीचीन उदय था। वे गुरु रामदास के चरणों में बैठकर इस ज्ञान सूर्य के लिये नित होम करते थे। यही कारण है शिवाजी धर्म के कल्याणकारी पथ से कभी भटके नहीं। भौतिक सूर्य के प्रकाश में दमदमाता परस्त्री का रूप उन्हें कभी विचलित नहीं कर सका। पाप वसना उनको छू नहीं पाई। पर नारी की तरफ उनकी आंख कभी उठी नहीं। भद्रो—इस ज्योति की शक्ति अद्भुत है। इसका तेज बहुप्रभावी है। इसका प्रकाश सूक्ष्म-धर्म का बोधक है। इसके बल पर व्यक्ति नित नये-नये अभ्युदायो को प्राप्त करता है। इसके उत्प्रेरण से व्यक्ति रोज विजय लाभ करता है। यह उन्नति के रोधक तम का, दुर्भाव का सद्य (तुरन्त) विनाश कर देती है। इसलिये वेद के ऋषि बार-वार कहते हैं—

ज्योतिरग्निः पाप्मनो दग्धा[3]।

यह ज्ञान ज्योति वह अग्नि है जो पाप भावों को जला डालती है। जब तक हमारे जीवन में यह अन्दर का सूर्य अपनी ज्ञान किरणों से हमारे

---

१. यजुर्वेद—३-९

२. स्वाह शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है एक सु आह तथा दूसरा स्व आह। सु का अर्थ है अच्छा स्व का अर्थ है अपना आह का अर्थ कहना।

३. मा. श. २-२-३-६

मस्तिष्क को प्रकाशित नहीं करेगा तब तक पाप वासनाओं का जीत लेना सम्भव नहीं। प्रातः दुनियाँ की ओर आँखे उठाने से पहले, भौतिक पदार्थों के दर्शन से पूर्व, स्वादु स्वादु भोज्य पदार्थों के संसर्ग से भी पूर्व, भौतिक मधुर स्वरों के श्रावण से भी पहले, कोमल स्पर्श सुख के अनुभव से प्राक (पहले) हे भद्र पुरुषो ! अपने आत्मस्थ सूर्य को तेजस्वी, बहुप्रकाशी, अति-शक्तिशाली बनाने के लिये उसमें ज्ञानसामग्री का होम करो तुरन्त उद्दीपक ज्ञानघृत की हवि दो। यही अनुदित होमी ऋषियों का तात्पर्य है। इस होम का फल अत्युत्तम तथा महान् है। महर्षि याज्ञवल्क्य इस होम के चारुफल का कथन इस प्रकार करते हैं—

यथा ह वा अहिस्त्वचो निर्मुच्यते एवं सर्वस्मात पाप्मनो।
निर्मुच्यते य एवं विद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति ।।[२]

जैसे सर्प केचुली से सर्वभावेन मुक्त होकर सम्यक् विचरण करता है उसी प्रकार से वह व्यक्ति सर्व पापों से मुक्त हो जाता है जो इस प्रकार मन्त्रभावों को जानता हुआ होम करता है।

पण्डितजी ने अति गंभीर होकर आगे कहा—भाईयो ! मनुष्य के पतन का, उसके सर्वनाश का कारण यही पाप वासना है। इसी पाप वासना को वेदों में वृत्र कहा है। यह वृत्रासुर बड़ा शक्तिशाली है। जैसे काला विकराल मेघ सूर्य प्रकाश को घेर लेता है। जैसे कालिख दीप कांच पर जम कर प्रकाश रश्मियों को रोक लेती है। ठीक उसी प्रकार यह मस्तिष्क में स्थित वृत्र दुर्बल ज्ञान सूर्य को घेर कर मनुष्य को अन्धा बना देता है। फिर मनुष्य सम्मुख आये विनाश को भी नहीं लख पाता। तब उसका भाग्य सूर्य डूब जाता है। इस वृत्र के साथ युद्ध करने के लिये रोज रोज आत्मा में ज्ञान ज्योति जमाने की आवश्यकता है ज्ञान की प्रचण्ड किरणे ही वृत्र की मजबूत घेराबन्दी को तोड़ सकती हैं।

देखो प्रातः जब व्यक्ति ज्ञान ज्योति को दीप्त करने के लिये बैठता है। उसमें आहुति देने के लिये तैय्यार होता है तो सबसे पहले कहता है—

अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा

एक भद्र व्यक्ति ने कहा—हे पण्डितवर हम तो इस मन्त्र का उच्चारण करके नित्य आचमन करते हैं। पर इसका अर्थ तो कुछ भी हमारी समझ में नहीं आता।

---

२. मा. श. २-२-३-६

पण्डितजी बोले—यही कारण है तुम नित्य होमी होने पर भी, नित्य मन्त्र पूर्वक आचमन करते हुए भी, इन्द्रिय भोग वासना को नहीं मार सके। विना अर्थ जाने, विना उसका अर्थ धारण किये केवल मन्त्रोच्चारण करने का कुछ लाभ नहीं। आत्मा पर मन्त्र का प्रभाव मात्र जिह्वा से उच्चारण करने से नहीं पड़ता। उसके अर्थ का भावन ही आत्मा में शक्ति उत्पन्न करता है। इसलिये ऋषियों ने अर्थज्ञान की प्रशंसा की है। निरुक्त शास्त्र के प्रवक्ता महर्षि यास्क ने तो यहाँ तक लिख दिया—

स्थाणुरयं भार हारः किलाभूत् ।[1]

अर्थात् जो मन्त्र वाचक अर्थ को नहीं जानता वह जड़ वृक्ष के तुल्य केवल भार का धारक है। और जो अर्थ भावना के साथ मन्त्र पाठ करता है—

योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ।[2]

जो मन्त्र के अर्थ को जानता है वही निश्चयेन सम्पूर्ण कल्याण को प्राप्त करता है। वही ज्ञान द्वारा पापभावों का विनाश करके दुःख रहित लोक का लाभ करता है।

भद्र व्यक्ति ने कहा—हे विद्वन् आज हमें आचमन के मन्त्र का अर्थ बोध कराओ। जिससे हम कल्याण को प्राप्त कर सकें।

पण्डितजी बोले—सुनो ! अमृत नाम उसका है जो मरे नहीं। हाथ में लिया जल भी अमृत है। आग में तपाने से सूक्ष्म हो जायेगा और पुनः निर्मल होकर बादल बन बरस जायेगा। पर यह हाथ में रखा जल शरीर की प्यास बुझाता है। शरीर के ताप को मिटाता है। देह के मल का मार्जन करता है। आत्मा के ताप को मिटाने वाला। आत्मा के मलों को धोने वाला अमृत यह हाथ का जल नहीं अपितु ज्ञानरस है।

ऋषि कहते हैं—हे याजक ! हे होम कर्त्ता ! तेरी आत्मा का उपस्तरण (विछोना) यह ज्ञान अमृत होना चाहिये। नित्य शान्त मन से यही प्रार्थना कर कि—हे अमृत (=ज्ञानरस) तू ही मेरी आत्मा का विमल विछोना बन। और—

अमृतापिधानमसि स्वाहा

हे अमृत ज्ञान रस तू ही मेरी आत्मा का अपिधान-ओढना बन। मेरे

---

१. निरुक्त १-६-१८

२. निरुक्त १-६-१८

नीचे भी सदा ज्ञान रहे ऊपर भी सदा ज्ञान रस की धारा बहती रहे उसके बीच में सदा मेरी आत्मा का निवास हो। और मेरी उस आत्मा में—

सत्यं यशः श्री श्री र्मयि श्रयतां 'स्वाहा'

सत्य, यश और परहित साधक सौभाग्य यह त्रिविध सच्ची श्री मेरी आत्मा में सदा निवास करे। भद्रो ! ऋषियों ने कितना सुन्दर कथन किया, कितना कल्याणकारी प्रेरण किया है। और कहा है—

स्वाहा

यह सब से सुष्ठु (अच्छा) वचन है। यह सदा हितकारी उपदेश है। देखो जब तुम्हारा विनयशील गुणवान् पुत्र पूरे विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान पाने का विजय समाचार सुनाता है तो तुम्हारे पास खुशी प्रकट करने के लिये, अपने प्यारे पुत्र की प्रशंसा करने के लिये सहसा एक ही हार्दिक उद्‌गार प्रकट होता है—वाह वाह वहुत अच्छा। भद्रो यह वाह वाह शब्द स्वाहा का ही कुछ वदला रूप है। किसी की जब आन्तरिक हृदय से प्रशंसा की जाती है तब कहा जाता है "स्वाहा" अतः हार्दिक प्रशंसा प्रकट करने के लिये स्वाहा शब्द से अच्छा कोई दूसरा शब्द नहीं है। मन्त्र का जिह्वा से उच्चारण कर लेना स्वाहा नहीं-अच्छा नहीं। जब मन्त्र का उच्चार मनोयोग से, अर्थ की भावना से किया जाता है वही स्वाहा है। सुष्ठु कल्याण कारक उच्चारण है। पर हमारी गति भिन्न है। हम या तो मन्त्र के अर्थ को जानते ही नहीं यदि जानते भी हैं तो मन अन्य ही लोक भावों का चिन्तन करने में लीन रहता है और मात्र तोते के समान हम मन्त्र बोलते जाते हैं। यही कारण है कि वर्षों के उच्चारण के पश्चात् हम वैसे के वैसे रहते हैं। केवल भौतिक शरीर जल का आचमन, मात्र भौतिक अग्नि में डाली गई हवियाँ सच्चे कल्याण को, उत्थान को प्राप्त नहीं करा सकती। भारत में वाह्य होम का ही जब बोला बाला रहा तब उसकी आत्मा सूख गई। भोग विलास और स्वार्थ की नीच भावना ने देव भूमि को पराधीन बना दिया। आत्म होम से शून्य वाह्य होमी आज ऐश्वर्यवान् हैं तो कल दरिद्र हो सकता है। वह आज सुन्दर स्वस्थ देह है तो कल रोगाक्रान्त हो सकता है। आज स्वाधीन है तो कल गुलामी का दारुण दुःख भोग सकता है। इसलिये महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

शश्वद्ध नो दियाद् यदस्मिन्ने तामाहुति मजु होति

जो इस आत्मा में ज्ञान ज्योति उद्दीपक आहुति को नहीं डालता उसका भाग्य सूर्य कदापि उदय नहीं होता।

भद्र जनों के श्रद्धा से हाथ जुड़ गये। उनके मुख से सहसा निकला। ऋषियों का कथन सत्य है। सदा भद्रकारी है। उसका श्रवण करने से हमारी आंखे खुल गई। हमें यथार्थ राह मिल गई। हमारा अज्ञान का पर्दा हट गया। हमें इन्द्रियाँ को जीतने का रहस्य ज्ञात हो गया। अभ्युदय की सदा वृद्धि होने का कारण ज्ञात हो गया। हे शतपथ के गूढ विज्ञान के ज्ञाता सुविद्वन् हम आपका बार बार वन्दन करते हैं।

॥ इत्योम् ॥

चतुर्दश पथ

भगवान् प्रजापति और उसकी सन्तान

यह महर्षि याज्ञवल्क्य के पट शिष्य माध्यन्दिन का विद्याकुल है। शिष्यों ने एक बहुपर्णी वटवृक्ष की छाया में काष्ठपीठ पर कुश का पवित्र आसन बिछा कर उस पर एक सुन्दर मृगछाला बिछा दी। दीप्तभाल आचार्य माध्यन्दिन आये और चौकी पर विराजमान हो गये। जैसे मानो उदयाचल पर भगवान् भास्कर (सूरज) ने आकर आसन लगा दिया हो। शिष्यमण्डल ने अतिश्रद्धा के साथ आचार्य को प्रणाम किया और अपने अपने आसनों पर बैठ गये। आचार्य माध्यन्दिन ने अपने वरिष्ठ शिष्यों को शतपथ ब्राह्मण पढ़ाना शुरू किया। शिष्य गण ज्ञानरस का यथेष्ट पान करने के लिये मानो विद्यासिन्धु के तट पर आसीन हैं। ऋषि की सरस्वतीधारा का प्रवाह फूटा और उनके मुख से निकला—हे शिष्य गण ! प्रजापति देवता की महिमा वेदों में बार बार गाई है। हमारे गुरु महर्षि याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति के स्वरूप का प्रकाशन विस्तार से किया है। यह देवता सारी प्रजाओं का स्वामी और पालक होने से प्रजापति कहलाता है। भगवान् प्रजापति के दो रूप ऋषियों ने बताये हैं। एक प्रजापति अतिमहान् है तो दूसरा अतिलघु। एक प्रजापति सर्वव्यापक है तो दूसरे का क्षेत्र मात्र एक देह तक सीमित है। एक सर्वज्ञ है तो दूसरा ज्ञानापेक्षी। एक की प्रजाएँ असंख्य हैं तो दूसरे की स्वल्प (थोड़ी)। एक आत्मा है तो दूसरा परमात्मा। आचार्यपाद महर्षि याज्ञवल्क्य ने आत्मा और परमात्मा प्रजापति का स्वरूप कैसे प्राप्त करते हैं यह सूक्ष्मविज्ञान भी अपने ब्राह्मण प्रवचन में प्रकट किया है। देखो वे अपने ब्राह्मण के छठे काण्ड में लिखते हैं—

स योऽयं मध्ये प्राणः एष एवेन्द्र।[1]

अर्थात्—इन्द्रनामक एक अतिसूक्ष्म महती शक्ति है। यह इन्द्र शक्ति ही संसार के प्राणों को शक्ति देकर उन्हें गति प्रदान करती है। इसी के परिणाम-स्वरूप अग्नि वायु सूर्य आदि देव नाना ऐश्वर्य के धारक बन पाते हैं। इसी

१. मा. श. ६-१-१-२.

इन्द्र शक्ति से वायु गतिमान् है तो पृथिवी निरन्तर घूम रही हैं। इसी शक्ति से सूर्य तेजस्वी है तो चन्द्रमा शीतल कान्ति वाला है। जल में शीतलता, पृथिवी में स्थिरता, मेघ में जलधारण की क्षमता यह सब उस प्रभु की इन्द्रशक्ति का ही प्रताप है। नहीं भला जड़ प्रकृति में गति कहाँ। उसमें नानाविध ऐश्वर्य के सर्जन का सामर्थ्य कहाँ। इन्द्रशक्ति से नाना विध ऐश्वर्य का लाभ करके भूत देवों से बहु रचनाएं करना, उनका धारण करना यह सब भगवान् के प्रजापति रूप का कार्य है। जब सर्वशक्तिमान् परमेश्वर नानाविध सृष्टि की रचना और उनके धारण पालन का कार्य करता है तो वह प्रजापति कहलाता है।

एक प्रबुद्ध शिष्य ने विनयपूर्वक प्रश्न किया—हे आचार्यपाद ! यह तो परमात्मा के प्रजापति रूप का कथन हुआ। आत्मा का प्रजापति रूप क्या है ?

आचार्य ने उत्तर दिया—शिष्यगण ! आचार्यवर महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने शतपथ ब्राह्मण में मुख्य रूप से आत्मा के प्रजापति रूप का ही विवेचन किया है। क्योंकि जब तक यह आत्मा परमेश्वर के प्रजापति रूप का अनुकरण करके उसको आत्मा में प्रतिष्ठित नहीं करता तब तक वह अध्यात्म के पवित्र मार्ग का लाभ नहीं कर सकता। देखो आत्मा की भी एक इन्द्र नाम की शक्ति है। उसी सूक्ष्म इन्द्रशक्ति के बल से प्राण चल रहे हैं, आंखें देख रही हैं, कान सुन रहे हैं, जिह्वा उच्चारण कर रही है। यदि आत्मा की यह इन्द्रशक्ति दुर्बल हो जाये तो फिर श्वास की गति भी विचलित होने लगेगी। जैसे नासिका से जाने वाला प्राण हृदय में जाकर शरीरस्थ सभी प्राणों को जीवन देता है, यदि श्वास प्रश्वास का क्रम दुर्बल हो जाये तो फिर सारे अङ्ग ढीले पड़ जायेंगे। तब मनुष्य कर्म करने में शिथिल पड़ जायेगा। इसी प्रकार आत्मा की इन्द्रशक्ति अति महत्त्वपूर्ण है। यदि यह सूक्ष्म प्राणरूप इन्द्रशक्ति दुर्बल हो गई तो समस्त शरीर शक्तियां क्षीणता को प्राप्त कर जायेंगी।

एक विनीत शिष्य ने नम्रतापूर्वक पूछा—हे आचार्य देव ! आत्मा इस इन्द्र शक्ति का लाभ कैसे तथा कहाँ से करता है ?

महर्षि ने गम्भीरता के साथ उत्तर दिया—शिष्यवृन्द ! इन्द्र अपने उद्दीपन की शक्ति का लाभ अग्नि देवता के माध्यम से करता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने सभी देवताओं का कारण अग्नि देव को ही बताया है।[1] महर्षि

---

१. अग्निरु देवाना प्राणः। — मा. श. १०-१-४-१२

ने यह भी स्पष्ट घोषित कर दिया है कि अन्य देव अग्नि के ही नाना रूप हैं।[1] आचार्यपाद ने लिखा है—जब अग्नि पहले पहले आत्मा में दीप्त होकर धूमवान् सी लपटों वाली होकर कार्य के लिये उत्प्रेरित करता है तो वह अग्नि ही रुद्र देवता कहाता है। इस रुद्र अग्नि से सम्पन्न व्यक्ति बिना लम्बा विचार किये झटिति दोषी जनों पर प्रहार करता है। इसी रुद्राग्नि से युक्त व्यक्ति वीर सैनिक तथा सेनापति का पद प्राप्त करता है। युद्ध के मैदान में यदि सेनापति और सैनिक लम्बी विचारणा में लग जायें तो शत्रु को मार पाना ही असम्भव हो जाये। इसलिये ऋषि ने कहा है कि रुद्र बिना किसी दया तथा विचारणा के दुष्ट प्रजाओं को दण्डित करता है।[2]

जब वही अग्नि कुछ और दीप्त होता है तो वरुण देव कहलाता है। वरुण भी क्षत्रिय देव है। पर वह झटिति किसी को मार नहीं देता अपितु वह दोषियों का निग्रह (Arrest) करता है।[3] इस वरुणाग्नि से युक्त व्यक्ति युद्ध भूमि में नहीं लड़ते अपितु सब के बीच में छिपकर मानव प्रजा को हानि पहुंचाने वाले दुष्ट जनों को अपने दीप्त ज्ञान से खोज निकालना और उसे दण्डित करना वरुण देव का ही कार्य है।[4] जब वही अग्नि देव आत्मा में ऊंची लपटों के साथ वेग से दीप्त होता है तो इन्द्र देव का पद पा जाता है। यह अतिदीप्त इन्द्र अग्नि ही नाना ऐश्वर्यों का निमित्त है। इसलिये व्याकरण शास्त्र के आचार्य इन्द्र शब्द का मुख्य अर्थ ऐश्वर्य प्रदाता करते हैं।[5] परन्तु वेदों के ज्ञाताओं में अग्रणी आचार्य याज्ञवल्क्य ने तो लिखा है—

य ऐन्द्ध तस्मादिन्धः। इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते।[6]

अर्थात्—यह ज्वालावान् अतिदीप्त अग्नि सब प्राणशक्तियों को उद्दीप्त करने के कारण इन्द्र कहलाता है।

एक शिष्य ने विनयपूर्वक प्रश्न किया—हे गुरुवर्य ! व्याकरण के आचार्य तथा वेद के आचार्य में यह अर्थ की भिन्नता क्यों है ? क्या व्याकरण के आचार्य वेद के सच्चे अर्थों के ज्ञाता नहीं थे ?

---

१. देखिये मा. श. २-३-२-९ से १३ कण्डिका तक
२. अश्रद्धयेव त्वत्, सहसेव त्वत् निघातमिवत्वत् सचते। मा. श. २-३-२-९
३. गृह्णन्निव त्वत्....मा. श. २-३-२-१०
४. उत यो द्यामतिसर्पात परस्तात न समुच्यातै वरुणस्य राज्ञः। —अथर्ववेद
५. इदि परमैश्वर्ये (भ्वा.)
६. मा. श. ६-१-१-२

गुरु ने उत्तर दिया—विनीत शिष्य ! ऋषियों के अर्थों में कोई मौलिक भेद नहीं। जब अग्नि की यह इन्द्र नामक ज्वाला आत्मा में उद्दीप्त होती है और निरन्तर धधकने लगती है तो वह व्यक्ति सर्वतो भावेन श्रेष्ठ कर्मों के अनुष्ठान में अग्रणी हो जाता है। बड़ी से बड़ी वाधा और दुःख उसे अपने यज्ञकार्य से विमुख नहीं कर सकते। मन्द अग्नि वाले लोग जहाँ घबरा जाते हैं, वहां इस इन्द्राग्नि का धारक व्यक्ति आगे आगे बढ़ता चला जाता है। साधारण जन उसके पृष्ठानुगामी बन जाते हैं। वह इन्द्रशक्ति से युक्त व्यक्ति सूर्य के समान तेजस्वी होकर नेतृत्व का पद लाभ करता है।[1] इस प्रकार वह अतिदीप्त इन्द्रशक्ति महान् ऐश्वर्य की प्रदानकर्त्री बन जाती है।

नम्र शिष्य ने पुनः प्रश्न किया—हे आचार्य पाद ! आत्मा में स्थित होने वाले इस अग्नि का स्वरूप क्या है ? यह अग्नि आत्मा में कैसे प्रकट होता है ?

आचार्यवर माध्यन्दिन बोले—वत्स ! अग्नि वह शुद्धज्ञान तत्त्व है जो वेद के पवित्र मन्त्रों से प्रकट होकर आत्मा में प्रतिष्ठित होता है।[2] इसी शुद्ध ज्ञान ज्योति को आचार्यकुलों में आकर ब्रह्मचारी ग्रहण करते आये हैं। इसी ज्ञानज्योति का नाम वेदों में अग्नि देव है, यही ज्ञानज्योति अग्नि सभी दिव्य शक्तियों का दिव्यगुणों का कारण जानना चाहिये। यही ज्ञानज्योति जिनकी आत्मा में उच्च ज्वालाओं के साथ जल पड़ती है तो यह सब पापभावों को दग्ध कर डालती है। इसी तीव्र ज्ञान ज्वाला का नाम इन्द्र देव है। इस ज्ञान-ज्वाला से युक्त मनुष्य की कर्मगति को कोई बाधा रोक नहीं सकती। यह ज्ञान ज्वाला तीव्र वेग के साथ आत्मा के कार्यसाधक सूक्ष्म प्राणों को उत्पन्न करके उन्हें कार्य में संलग्न करती है। वे पांच सूक्ष्म प्राण हैं—मन, आँख, कान, नासिका तथा जिह्वा महर्षि याज्ञवल्क्य ने इन्हें ऋषि भी कहा है। ये पाँच ऋषि इन्द्र की शक्ति से उद्दीप्त होते हैं। ऐसा भी महाविज्ञानी आचार्यपाद महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा है।[3] ये पांचों ऋषि यथार्थ ज्ञान को निरन्तर लाभ करके आत्मा को प्रदान करते हैं। प्रिय शिष्यो ! वही मनुष्य ऋषि कहलाने का अधिकारी है जो सही ज्ञान का लाभ करके उसे बिना लुकाए छिपाए अन्यों को प्रदान करता है। ऋषि कभी अपने स्वार्थ के लिए ज्ञान को अन्यथा करके उपदेश नहीं करता। देखो आँखे जैसा देखती हैं ठीक वैसा ही आत्मा को बताती हैं। कान जैसा सुनते हैं ठीक वैसा ही आत्मा को बताते हैं। ये सूक्ष्म

१. इन्द्रो यज्ञस्य नेता। —मा. श. ४-१-३-१
२. ब्रह्म वा अग्नि। —मा. श. २-५-४-८
३. देखिये मा. श. ६-१-२-२ तानेष प्राणान् मध्यत इन्द्रियेणैन्द्ध इत्यादि

प्राण मिलकर सात पुरुषों को उत्पन्न करते हैं। ये पुरुष कुछ स्थूल प्राणशक्तियाँ हैं। इनमें दो प्राण नेत्रों में कार्य करते हैं तो दो प्राण नासिका में, दो प्राण कानों में कार्य करते हैं तो एक प्राण जिह्वा में। ये सात प्राण सात पुरुष कहलाते हैं। ये सब मिलकर ही एक प्रजापति बनते हैं।[1] इन सातों पुरुषों के सारभाग ज्ञान का एक रूप ही प्रजापति पुरुष है। यह तो हुई सूक्ष्म प्राण और उसके प्रजापति रूप की वार्ता। स्थूल प्राणों में जो वायु हम नासिका द्वारा ग्रहण करते हैं, वह इन्द्रप्राण कहाता है। यह इन्द्र प्राण विविध प्राणों का सञ्चार शरीर में करता है, जिससे सात प्राणों की सर्जना होती है। इन सात प्राणों में से दो प्राण छाती में नाभि से ऊपर कार्य करते हैं तो दो प्राण नाभि के नीचे कार्य करते हैं। दो प्राण हाथों में तथा एक प्राण पैरों में कार्य करता है।[2] ये सात प्राण सात पुरुष कहलाते हैं। जब ये सब मिलकर तपते हैं तो इनका सार भाग ऊपर उठता है। इनका उठता हुआ सार अमृत भाग शरीर के सार अमृत को भी ऊपर ले जाता है। यही शारीरिक सार अमृत ओज नाम से भी कहाता है। यही ओज सूक्ष्मप्राण सार का मस्तिष्क में धारक बनता है। सूक्ष्म भौतिक प्राणसार ही अतिसूक्ष्म ज्ञानरूप प्राण को धारण करता है। ये सूक्ष्म भौतिक प्राण सार तथा अभौतिक ज्ञानरूप सूक्ष्म प्राण ही समस्त कर्मों के निमित्त बनकर प्रजनन एवं पालन का कार्य करने के कारण प्रजापति कहलाते हैं।[3] इस प्रजापति को अक्षीण तथा बलवान् बनाये रखने का कार्य अग्नि करता है। जब प्रजापति सर्जन और पालन का कार्य करता है तो उसकी शक्तियाँ क्षीण होती हैं। उसका पुनः सन्धान करना अग्नि का कार्य है।[4] जैसे शारीरिक क्षीणता का निवारण, उत्तम भोजन के सेवन तथा उसे अच्छी प्रकार पचाकर शरीर का अङ्ग बनाने से होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म ज्ञान प्राणों की क्षीणता का निवारण ज्ञान हवि के होम से होता है। यही उत्तम और कल्याणकारी शिक्षा देने के लिये आर्यों में नित्य होम का नियम वेदज्ञ ऋषियों ने निश्चित किया है। जैसे अग्नि को हवि न मिलने से वह मन्द पड़कर अन्त में बुझ जाता है, ठीक वही गति सूक्ष्म ज्ञानाग्नि की है। यदि उसमें ज्ञान की हवि न पड़ी तो वह मन्द पड़ कर एक दिन सर्वथा बुझ जायेगा। उसके मन्द पड़ते ही सर्वकर्मों का निमित्त प्रजापति क्षीण हो जायेगा और कुछ भी कर पाने का सामर्थ्य उसमें नहीं रहेगा।

१. स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्। मा. श. ६-१-१-५
२. द्रष्टव्य—मा. श. ६-१-१-३
३. सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत भूयानस्याम् प्रजायेयेति। मा. श. ६-१-१-८
४. सोऽग्निमब्रवीत्—त्वं मा सन्धेहि। मा. श. ६-१-२-१३

इस प्रजापति पुरुष की प्रजाएँ रूप शक्तियाँ बहु प्रकार की हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य ने वेदों के अनुसार प्रजापति की पाँच प्रमुख प्रजाएँ बताई हैं वे पांच प्रकार की प्रजाएँ हैं—देव, पितर मनुष्य, पशु और असुर।[1] अच्छे और बुरे सारे कर्मों का अनुष्ठान ये प्रजापति की प्रजाएँ करती हैं। अतः इनको ठीक-ठीक जानना आवश्यक है।

प्रजापति की सबसे श्रेष्ठ प्रजा देव हैं। ये ही देव प्रजाएँ सर्वहितकारक पवित्र यज्ञकर्म की साधक हैं। इन्हीं प्रजाओं के बल पर व्यक्ति अपने स्वार्थ का, अपने सुख का त्याग करके परोपकाररूप यज्ञकर्म का अनुष्ठान करता है। ये देव प्रजाएँ वेद के शुद्ध ज्ञान से उत्पन्न होती हैं। देखो आचार्यपाद ने कितना सुन्दर कथन किया है—

प्राचीनप्रजनना वै देवाः।[1]

अर्थात् देवों की उत्पत्ति नीचे से नहीं अपितु ऊपर से (मुख से) होती है। आचार्य जन अपने मुख से वेदों के पवित्र ज्ञान का उच्चारण करते हैं और वह ज्ञान शिष्यों के मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि की ज्योति जलाता है। उस ज्ञानज्योति से नाना दिव्य भाव रूप प्रजापति की देव प्रजाएँ जन्म लेती हैं।

हे शिष्टमण्डल! इन प्रजापति की सन्तानों को सरलता से समझाने के लिये आचार्यवर महर्षि याज्ञवल्क्य ने एक उपाख्यान (कल्पित परन्तु सदा घटित होने वाली सत्य कथा) लिखा है।[2] जो इस प्रकार है—एक बार सारी प्रजाएँ प्रजापति भगवान् के पास आई और बोली—हे प्रजापति पिता! हमारा जीवन स्थाई नहीं। आज अच्छा विचार आता है कल समाप्त हो जाता है। आज यौवन है तो कल वृद्धावस्था आ जाती है। हमें वह चीज प्रदान करो जिससे हम स्थायी अमृत जीवन प्राप्त कर सकें। सबसे पहले देवजन यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण करके दाहिने घुटने को नीचे टेककर अमर जीवन की याचना के लिये उपस्थित हुये।

प्रजापति भगवान् बोले—हे देवो! तुम अमरता पा सकते हो। देवों ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—कैसे? प्रजापति भगवान् ने कहा यदि तुम यज्ञ रूपी अन्न का सेवन करो तो अमरता का लाभ कर सकते हो। यह यज्ञरूपी अन्न

---

१. ब्र. मा. श. २-४-२
२. म. श. ७-४-२-४०
३. देखिये मा. श. २-४-२

हे देवो ! तुम्हारी ऊर्जा=प्राणशक्ति होगी। इस यज्ञान्न के सेवन से तुम्हें जीवनदायी सूर्यज्योति के समान उज्ज्वल ज्योति का लाभ होगा।

एक शिष्य ने नम्रता के साथ पूछा—हे आचार्य देव ! देवों को अमृत जीवन प्रदाता अन्न, यज्ञ कैसे है ? देव यज्ञ को अन्न रूप में कैसे ग्रहण करते हैं ? यह मेरी समझ में नहीं आया !

आचार्य माध्यन्दिन ने उत्तर दिया—प्यारे शिष्यो ! तुम रोज यज्ञ करते हो। अग्नि में घी आदि का होम करते हो। घी आदि पदार्थों से अग्नि दीप्ति का लाभ करता है। यदि समिधाएँ (यज्ञ काष्ठ) तथा घी आदि पदार्थ अग्नि देव के अर्पण न किये जायें तो अग्नि का दीपन कभी नहीं हो सकता। अग्नि का अन्न घी आदि ही सचमुच यज्ञ का मूल कारण होने से यज्ञ कहाता है।[1] यह तो भौतिक अग्नि की वार्ता है। ज्ञानाग्नि, जिसका उद्दीपन अन्तः-करण में किया जाता है। यह अग्नि ही सब श्रेष्ठ कर्मरूप यज्ञ का मूल कारण है। इस अग्नि को सदा दीप्त रखने वाला अन्न तो शुद्ध ज्ञान के धारक वेद मन्त्रों का पवित्र ज्ञान है। इस ज्ञान हवि को पाकर समस्त देव तृप्त होते हैं। उनको दिव्यशक्ति का लाभ होता है। जो व्यक्ति अपने देवों को यह यज्ञिय अन्न सदा देता है, उसके उत्तम भाव आज के समान कल भी सजीव रहते हैं। उनकी दीप्ति कभी मन्द नहीं पड़ती। उनकी शक्ति में थोड़ी भी न्यूनता नहीं आती। यही रहस्य है दिव्यपुरुषों की भावनाओं की अशिथिलता का। यही कारण है उनकी अबाधगति का। वे अपनी अन्तरात्मा को नित्य पवित्र ज्ञानरूपी अन्न देकर उसे तृप्त करते रहते हैं। फिर उनकी ज्ञानज्योति सूर्यसम सदा अक्षीणभाव से उदित होती रहती है। इस शुद्ध ज्योति के उदय से समस्त संशय, सभी विचिकित्साएँ तथा सर्वविध भ्रमों का निवारण हो जाता है। वेद के ऋषियों ने इस अन्तर्होम की शिक्षा देने के लिये ही इन बाह्यहोमों की सृष्टि की थी। पर दुःख है आज चारों ओर बड़े बड़े बाह्ययज्ञों का अनुष्ठान तो ऋत्विग् लोग कराते हैं पर इस प्रधान आत्महोम की अवहेलना ही दिखाई देती है। हे शिष्यो ! इसी सच्चे यज्ञ के अभाव में आर्य कुलों में ईर्ष्या द्वेष का ऐसा विनाशक दुर्भाव उत्पन्न हुआ कि आपस में ही लड़ कर महाविनाश कर डाला। आज चारों ओर हाहाकार मचा है। ईर्ष्या की आसुर अग्नि की लपटों से आर्यावर्त जल रहा है। आचार्यपाद महर्षि याज्ञवल्क्य ने द्रोणादि आचार्यों को बहुत समझाया कि—द्रोण ! यह भौतिक विज्ञान की शिक्षा, आत्मविद्या के अभाव में विनाश के जहरीले फल ही प्रदान करेगी।

१. हवींषि वा आत्मा यज्ञस्य। मा. श. १-६-३-३९

देव प्रजाओं को सजीव रखने के लिये—हे शिष्यो ! ज्ञान हवियों के होम की अनवरत (लगातार) आवश्यकता है। इस आत्म होम में प्रमाद किया तो याद रखो देवजीवन को अमरता प्रदान करने वाली ज्ञानज्योति मन्द पड़ जायेगी। उसके मन्द पड़ते ही जीवन दीप बुझ जायेगा। उन्नति के द्वार वन्द हो जायेंगे। जीवन सुख का शीतल जलस्रोत सूख जायेगा, विजयधारा का वेग रुद्ध हो जायेगा। जैसे अन्न के विना मानव देह सूख जाता है, जैसे विना तेल के दीपवर्तिका (वत्ती) स्वयं जलकर प्रकाशहीन हो जाती है। जैसे इन्धन के विना अग्नि शान्त हो जाती है और जैसे पानी के विना पौधा म्लान हो जाता है। ठीक इसी प्रकार ज्ञानान्न के सेवन के विना देवभावों की स्थिति नहीं, उनमें तेजस्विता और सवलता नहीं। यही प्रजापति पिता का देवों को अमर जीवनदायी उपदेश था।

देवों के पश्चात् पितर लोग पिता प्रजापति के पास प्राचीनवीती[1] होकर बांये घुटने के सहारे बैठकर बोले—हे पिताश्री ! हम भी तेरी प्रजा हैं। हमें भी जीवनदायी अन्न प्रदान करो !

प्रजापति भगवान् बोले,—हे बुढे विज्ञानी पितरो ! तुम अब शरीर से कुछ दुर्वल हो गये हो। तुम्हारे में अब देवशक्तियों के समान कर्मकारक वेग नहीं रहा। ज्ञान धारक प्राणतत्त्व अब क्षीण हो गये। तुम अब एकान्त में साधना करो। कर्मक्षेत्र से कुछ दूर हटकर अध्यात्म की साधना करो यही तुम्हारा सुन्दर कल्याणी शेष जीवन है। पितर बोले—हे पिता श्री प्रजापति ! आप ठीक कहते हैं। हम कर्म करते-करते थक चुके हैं मन में यद्यपि अब भी उत्साह है पर शरीर ढीला पड़ गया। वाल सफेद हो गये। हम अब वृद्ध हो गये। हमने देव कार्य के सम्पादन के अपने उत्तराधिकारी सन्तान तैयार कर दिये। अब हमारे इस पितर जीवन को सफल करने वाला अन्न, जीवनदायी प्राण तथा सदा प्रकाश देने वाली ज्योति का दान दो।

भगवान् प्रजापति के कहा—पितरो ! तुम्हारा जीवनदायी भोजन एक मास में एक वार होगा। पितर प्रजाओ को शक्ति देने वाला ज्ञान अन्न प्रति मास सेवनीय है। स्वधा ही तुम्हारा सेवनीय अन्न है। एक शिष्य ने विनय के साथ पूछा—हे आचार्यवर ! स्वधा का अर्थ क्या है ? यह पितरो का सेवनीय ज्ञानान्न कैसे है ? हम स्वधा का अर्थ बुढे पितरों को दिया जाने वाला अन्न ही समझते हैं।

---

१. यज्ञोपवीत को उल्टा अर्थात् दायें से बायें ओर डालकर

आचार्य श्री माध्यन्दिन ने उत्तर दिया—स्वधा का अर्थ है जिसको स्वयं धारण किया जाये। पितरों को दिया जाने वाला अन्न भी स्वधा कहलाता है क्योंकि पुत्र लोग श्रद्धा से अपने माता पिता आदि पितरों को बिना मांगे स्वयं इस अन्न को अर्पित करने के लिये धारण करते हैं। यह शरीर को शक्ति देने वाली स्वधा है। आत्मा के पितृप्राणों का अन्न तो ज्ञान है। उसको वृद्ध वानप्रस्थ जनों को स्वयं ध्यान, धारण, समाधि के द्वारा धारण करना चाहिये तथा प्रतिमास विद्वान् ऋषियों तथा आचार्यों के सत्सङ्ग से ज्ञान का भोजन भी ग्रहण करना चाहिये।

भगवान् प्रजापति ने अपनी इन पितर प्रजाओं को यही स्वधा प्रदान की। इसी स्वधा के सेवन से पितरों का जीवन सफल होता है। तीसरी एक और चीज भी प्रजापति ने पितरों को प्रदान की वह है—मनोजव। ज्ञान लाभ की इच्छा, तीव्र संवेग ही, उत्कट इच्छा ही पितरों को अमृत जीवन प्रदान करेगा। यदि वृद्धजनों ने तीव्र संवेग को खो दिया तो उनका पितृधर्म से पतन हो जायेगा। तब इन्द्रिय सुखभोग का आसुर भाव उन्हें वशीभूत कर लेगा। फिर वे पितर नहीं, ज्ञानी नहीं, अपितु आलसी प्रमादी होकर असुर प्रजाओं की श्रेणी में आ जायेंगे।

पितरों ने जब पिता प्रजापति से पूछा कि हमारे जीवन की सही राह बताने वाली ज्योति क्या है? तो भगवान् प्रजापति ने कहा—हे पितरो! चन्द्रमा तुम्हारी ज्योति है। अब सूर्य के प्रचण्ड तेज की तुम्हें आवश्यकता नहीं। अध्यात्म की इस राह में चन्द्रप्रकाश के तुल्य शीतल ज्ञानज्योति का ही हे पितरो! तुम सहारा लो। इसी में तुम्हारा कल्याण तथा पितर जीवन की सफलता है। जो जन वृद्धावस्था में इस शीतल शान्तिहेतुक चन्द्रज्योति को आत्मा में धारण करते हैं वे ही शान्त शुद्ध होकर परमशान्ति का लाभ करते हैं।

आचार्य माध्यन्दिन ने अति गम्भीर होकर कहा—हे शिष्य गण! प्राचीनकाल में इसी शीतल ज्ञानज्योति का पान करने के लिये महाराज रघु ने सिंहासन का त्याग करके कुश के आसन को ग्रहण कर लिया था।[1] इसी परम ज्योति के लाभ की कामना से विश्वामित्र ऋषि ने राजवैभव को तिलाञ्जलि देकर सर्वोच्च ब्रह्मर्षि होने की प्रतिष्ठा ऋषिमण्डल में प्राप्त की थी।

---

१. परिचेत मुपाशुधारणां कुश पूतं प्रवयास्ते विष्टरम्। रघुवंश ८-१८

आचार्य ने आगे कहा—प्रजापति की तीसरी प्रजा मनुष्य हैं। वे भी वस्त्रादि से भूषित होकर पिता प्रजापति की सेवा में उपस्थित हुये और बोले—हे प्रजापते ! हमें भी जीवन सामग्री प्रदान करो प्रजापति भगवान् ने मनुष्यों को कहा—सायं तथा प्रातः दो समय तुम्हारा भोजन है। सन्तान द्वारा ही तुम्हारा जीवन स्थायी है। तुम्हारी मृत्यु निश्चित है। अग्नि तुम्हारी ज्योति है। देव यज्ञकर्म के साधक हैं तो मनुष्य अपनी इन्द्रियों के सुखसाधक हैं। देव सत्य के धारक हैं तो मनुष्य अनृत (झूठ) का सहारा लेने वाले हैं।[1] मनुष्य विविध प्रकार के पुष्टिकारक पदार्थों का सेवन करते हुये भी क्षीणता को प्राप्त करता है। उसके सुन्दर सुडौल वज्रसम देह का भी अवश्यम्भावी निपात है। वह यदि आज सुखी है तो कल शोक से रोता विलखता भी देखा जाता है। आज स्वस्थ है तो कल रोगाक्रान्त है। आज गीतवादित्र के साथ उत्सवमग्न है तो कल हा-हाकार पूर्ण रोदन करता है। असत्य सेवी, यज्ञविमुख मनुष्य प्रजा का विनाश ध्रुव है। मृत्यु अटल है। यह प्रजापति ने मनुष्यों को स्पष्ट बता दिया। भौतिक सुखापेक्षी मनुष्य की अमरता केवल सन्तान द्वारा है। अन्यथा उन्हें कोई नहीं जानता कि ये कब पैदा हुये और मर गये। मनुष्य प्रजा की ज्योति अग्नि है। इसी ज्योति के बल से ये अपने जीवन को कुछ सुखी बना पाते हैं। इनके पास देवों के समान अनवरत धूम रहित प्रकाश देने वाली सूर्य ज्योति नहीं। इन्द्रियों से जनित उनका ज्ञान टिमटिमाते दीपक के समान सम्मुखदर्शी है।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा है—न तो देव, न पितर और न ही पशु अपने नियमों का उल्लङ्घन करते हैं। परन्तु स्वपेटपालक यह मनुष्य कदापि अपने नियमों का पालन नहीं कर सकता। यह अपने नियमों को त्याग कर भोगासक्त हो जाता है। प्रजापनि ने कहा था—हे मनुष्यो। यदि तुम सुखी जीवन चाहते हो तो केवल सायं प्रातः दो बार ही खाना। पर जिस मनुष्य का उद्देश्य ही भोग भोगना है, वह भर पेट खाने पर भी मिष्टान्न को देख कर कैसे रुक सकता है, बस यही भोग उसे मृत्यु के दुःख का ग्रास बना देता है। ऋषि अति सुन्दर कल्याणकारी उपदेश देते हुये लिखते हैं—

यो मनुष्याणां मेद्यति। अशुभे मेद्यति।[2]

अहो ! जो व्यक्ति इस अनृत सेवी मानुषभाव के प्रति स्नेह रखता है लगाव और प्यार रखता। निश्चित जानो वह अशुभ के प्रति, अभद्र के प्रति

---

१. सत्यमेव देवाः, अनृतं मनुष्याः। —मा. श. १-१-१-३
२. मा. श. २-४-२-६

स्नेहवान् है। यह मानुषभाव से प्यार करने वाला व्यक्ति सदा अधोगति का ही लाभ करता है। अमृत जीवन से वह दूर ही दूर होता जाता है।

प्रजापति की चौथी प्रजा पशु है। पशु भी प्रजापति भगवान् के पास जीवन सामग्री के लाभ के लिये उपस्थित हुये। प्रजापति भगवान् ने पशुओं को कहा तुम सदा पर के अधीन हो। अतः तुम्हें जब भी खाद्य सामग्री मिले खा लो। पशु नाम प्रजापति के कार्यसाधक इन्द्रिय प्राणों का है। ये प्रजापति के पशु अपने पिता के आदेश के अनुसार विना कुछ विचार किये कार्य का अनुष्ठान करते हैं जैसे गाय बैल आदि पशुओं को खाने का कोई समय निश्चित नहीं जब भी ये अवसर पाते हैं तभी अपने आहार का ग्रहण कर लेते हैं। उसी प्रकार प्रजापति के ये कार्यसाधक इन्द्रियां जब अवसर पाते हैं तभी अपना आहार लेकर पोषण प्राप्त करते रहते हैं। बहुधा ये कार्य करते हुये भी अपना अन्न ग्रहण करते रहते हैं। यदि इन पशुओं को शारीरिक खाद्य तथा ज्ञानान्न न मिलेगा तो ये क्षीण होकर अपने कार्य को नहीं कर सकेंगे। इनके द्वारा कार्य विरत होते ही देवों का यज्ञ कभी सम्पन्न नहीं हो सकेगा। इसलिये इनके लिये प्रजापति ने सदा अन्नसेवन का आदेश दिया है।

प्रजापति की पांचवीं प्रजा असुर है। असुर भी पिता प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुये और बोले हमें भी कुछ प्रदान करो। जिससे हमारा जीवन निर्वाह हो सके। प्रजापति भगवान् ने असुरों से कहा—तम तथा माया ही तुम्हारा जीवन है। असुरता का जनक अज्ञान का अन्धेरा और छल प्रपञ्च ही है। सज्ज्ञान के प्रकाश से देवत्व का प्रादुर्भाव होता है, वहाँ मिथ्या ज्ञान से असुर प्रजाएँ कार्यशील होकर मनुष्य को पापोन्मुख कर देती हैं। अज्ञान के अन्धेरे में इन्हें—भोले भाले लोगों को ठग लेना बुरा नहीं लगता। दुर्बलों को मार कर उनका सर्वस्व हर लेना इन्हें अभद्र नहीं प्रतीत होता। परन्तु याद रखो यह आसुरी प्रजा शीघ्र विनाशकारिणी है, पराजय का कुमुख दिखाने वाली है। असुर प्रजावान् मनुष्य चाहे कितना दृढ दुर्ग अपनी रक्षा के लिये बना ले, वह शीघ्र टूट जायेगा। लोहे और ताम्बे से बनी मजबूत दिवारें भी उनकी रक्षा नहीं कर पायेगी।

पराभूता ह त्वेव ताः प्रजाः।[1]

ये असुर प्रजा अन्त में पराभव का ही काला मुख देखती हैं। साम्राज्य केवल देवप्रजाओं का ही स्थिर। स्वार्थी लालची अज्ञानी और वञ्चकों का

१. मा. श. २-४-२-५

प्रथम तो राज्यलाभ ही कठिन है यदि राज्य मिल भी गया तो उसके भोग में असुर=छली प्रपञ्ची, द्वेषी तथा ईर्ष्यालु होकर स्वयं ही आपस में लड़ मरेंगे। असुर सदा मर्त्य हैं। अमरता केवल देवों के पास है। विजयश्री सदा देवभावों के अधीन हैं। इतना कहकर महर्षि याज्ञवल्क्य के पट शिष्य महाविद्वान् माध्यन्दिन आचार्य ने अपने शतपथ के प्रवचन को विराम दे दिया। शिष्यगण वैदिक विज्ञान को पाकर अति प्रसन्न थे। उनका हृदय ज्ञानरस से आपूरित हो गया। श्रद्धा से शिष्यों ने अपने आचार्य का वन्दन किया और उनके मुख से निकला—हे आचार्य देव! हम प्रजापति और उसकी प्रजा का सच्चा स्वरूप समझ कर कृतार्थ हुये।

॥ इति ॥

पञ्चदशः पथः

हे भोक्ता ! सावधान !
खाद्य सामग्री में
असुरों ने विष घोल रखा है

निर्धन धन के बिना दुःखी है, पर धनी को देखा तो वह भी सुखी नहीं मिला। गरीब भूख से पीड़ित है तो धनी रोग से क्लेशित। गरीब को सर्दी में ठिठुरता पाया तो अमीर कपड़ों से लिपटा हुआ भी चिन्ताचक्र से कांपता मिला। अकिञ्चन निर्धन टूटी झोपड़ी में वर्षा में भीगता हुआ दुःखी दिखाई दिया तो धनवान् भव्य भवन में भी क्लेशजनित अश्रुबिन्दुओं से भीगा ही मिला। निर्धन घर के अभाव में जलती लू से तपता हुआ मिला तो धनवान् अट्टालिका की शीतल छाया में भी ईर्ष्या द्वेष के अतितापी दाह से जलता मिला। इतना ही नहीं गरीब को सूखी रोटी खाकर वृक्ष की छाया में कभी सुखनिद्रा में पाया भी पर ऐश्वर्यशाली, बहुविध व्यञ्जनसेवी इस धनवान् को सुखनिद्रा का लाभ करते भी कभी नहीं पाया। टूटी खाट पर बैठे निर्धन को हमने बहुत्र हंसते-हंसाते पाया पर धनवान् के मुख पर सदा चिन्ता और खेद की गहरी लकीरें ही दिखाई दी। जैसे आग में इन्धन पड़ते ही उसकी ज्वाला दहक जाती है ठीक वैसे ही ऐश्वर्य भोग करते ही मानव की वासना और अधिक उमड़ पड़ती है। भोग वासना की उमड़ती ज्वाला मानों भोगी व्यक्ति को खा जाने में तत्पर हो जाती है।

भूखे नंगे दरिद्र व्यक्ति का दुःख तो सहजगम्य है। उसके दुःख को दूर करना भी बहुत कठिन नहीं। भूखे को रोटी देते ही उसका दुःख निवृत्त हो जाता है। नंगे को कपड़े देते ही उसका सर्दी से परित्राण (बचाव) हो जाता है। परन्तु रोटी के स्थान पर विविध प्रकार के व्यञ्जन सेवी, कपड़ों के स्थान पर नाना प्रकार की वेषभूषाओं से सजा-धजा, मकान के स्थान पर भव्य भवन का अधिपति भी जब आत्मपीड़ित मिला तो बुद्धिमान् लोग घबरा गये, चिन्ता में पड़ गये। वे गहरे विचारों में डूब गये। क्या हम धन वैभव पाकर भी क्लेश से मुक्त नहीं हो सकेंगे ? क्या विविध प्रकार के मिष्टान्न व्यञ्जनों का

लाभ करके भी हम सुखी नहीं हो पायेंगे ? क्या नानाविध वेषभूषाओं से सजकर भी हम प्रसन्नता का लाभ नहीं कर सकेंगे ? क्या सुन्दर भव्य भवन बनाकर भी हम सुख की नींद नहीं सो सकेंगे ? उनके विवेकीमन से आवाज निकली यदि सचमुच ऐसा है तो इनके लिये श्रम करना व्यर्थ है। रोटी कपड़े और मकान के लिये खून पसीना एक करना किस काम का। पर भूखा नंगा आदमी कब तक प्राण धारण करेगा ? वह तो शीघ्र ही भूख और सर्दी, गर्मी से पीड़ित होकर विनाश को प्राप्त कर लेगा। बुद्धिमान् लोग भी समझ नहीं पाये क्या करें ? ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं तो शान्ति नहीं, खाना पीना छोड़ते हैं तो मृत्यु दीखती है।

एक व्यक्ति ने कहा—भद्रो ! महर्षि याज्ञवल्क्य तत्त्ववेत्ता ऋषि हैं। उन्होंने समस्त वेदों का सार समझ लिया है। वे विशाल आश्रम के स्वामी होते हुये भी शान्त और निश्चिन्त हैं। वे वेदवेत्ता ऋषि ही बता सकते हैं कि मनुष्य खाता पीता ऐश्वर्य सेवी होते हुये भी नाना क्लेश क्यों पाता है ? वह भयङ्कर रोग से आक्रान्त होकर महाक्लेश भोगी कैसे हो जाता है। बहु धनी होकर भी वह ईर्ष्या द्वेष की आग में क्यों जलता है ? जिज्ञासुजन श्रद्धा-पूर्वकऋषि चरणों में उपस्थित हुये और विनय के साथ अपनी जिज्ञासा उपस्थित की।

तब महर्षि याज्ञवल्क्य बोले—भद्र जिज्ञासुओ ! तुम्हारी जिज्ञासा अति महत्त्वपूर्ण है। धन धान्य का स्वामी होकर भी व्यक्ति सुख के स्थान पर दारुण क्लेश; जलन और दाह को क्यों प्राप्त हो जाता है ? यह एक गूढ़ प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर केवल परमेश्वर की पवित्र वाणी वेद में है।

जिज्ञासुजनों ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—हे महर्षे ! धन-वैभव से युक्त व्यक्ति सर्वदा अखेद, मुदित और शान्त कैसे रह सकता है। यह सुन्दर कल्याण-कर मार्ग हमें दिखाओ।

ऋषि बोले—सुनो ! भद्रो ! आत्मा जब मन और इन्द्रियों से युक्त होकर कार्य तत्पर होता है तो वह प्रजापति कहलाता है। उस प्रजापति आत्मा की दो प्रकार की सन्तान उत्पन्न होती हैं। एक सन्तान का नाम असुर है तो दूसरी का नाम देव है।

एक बुद्धिमान् जिज्ञासु ने विनयपूर्वक पूछा—हे ऋषिराज आत्मा की देव और असुर सन्तानों की उत्पत्ति कैसे होती है ? इनकी उत्पत्ति का निमित्त क्या है ? बिना निमित्त के सन्तानोत्पत्ति की सम्भावना नहीं।

ऋषि ने उत्तर दिया—भद्र ! ज्यों ही आत्मा शरीर के साथ सम्बन्ध वाला होकर माता के गर्भ में आता है, वह आत्मा गर्भ में तीन नाड़ियों के द्वारा नाभि द्वारा माता से जुड़ा होता है, एक नाड़ी द्वारा वह शरीरवृद्धि हेतु माता से रस ग्रहण करता है तो दूसरी नाड़ी द्वारा प्राण ग्रहण करता है। तीसरी नाड़ी द्वारा वह माता के मस्तिष्क से जुड़ा होता है और ज्ञान ग्रहण करता है। यद्यपि वह गर्भस्थ आत्मा अपने पूर्व जन्म में गृहीत ज्ञान को भी लिये होता है तथापि इस जन्म में ज्ञान के ग्रहण की प्रक्रिया गर्भ में ही शुरू हो जाती है। माता ज्ञान का लाभ दो प्रकार से करती है। माता ही नहीं प्रत्येक मनुष्य के ज्ञान ग्रहण के दो स्रोत हैं। एक शुद्ध ज्ञान का स्रोत ईश्वर की पवित्र वेदवाणी है। वेदों के मन्त्रों से प्रवाहित होने वाले ज्ञान के ग्रहण से आत्मा की देव सन्तान जन्म प्राप्त करती हैं। दूसरा ज्ञान का स्रोत है मानव की अपनी इन्द्रियाँ। मानव आँखों से देखकर कानों से सुनकर, नासिका से सूंघ कर जिह्वा से चख कर और त्वचा से स्पर्श करके क्षण प्रतिक्षण ज्ञान लाभ करता है। इन्द्रियाँ केवल विद्यमानदर्शी हैं। वे पदार्थ का केवल बाह्य रूप देखती है अतः इन्द्रियाँ प्रायः सदा अधूरा एवं विपरीत ज्ञान प्राप्त करती हैं।

भद्रो ! देखो—आंखों ने सुन्दर युवतियाँ के नृत्य को देखा तो उन्होंने आत्मा को ज्ञान प्रदान किया कि सुन्दर बालाओं का नृत्य सुखदायी है। त्वचा इन्द्रिय ने उन मनोहर युवतियों का स्पर्श कर ज्ञान कराया कि यौवन-सम्पन्न बालाओं के स्पर्श से अति सुख का लाभ होता है। कानों ने मधुर गान के श्रवण में ही सुख बताया तो जिह्वा ने मधुर मिष्टान्नों के सेवन में सुख की प्राप्ति बताई। इस प्रकार इन्द्रियां नित्य आत्मा में अपने अनुभवों द्वारा प्राप्त ज्ञानधारा का निपात करती हैं। इन्द्रियों का यह अनुभवजनित ज्ञान तत्त्वदर्शी न होने से यथार्थता से विरुद्ध है। मनुष्य को क्षणिक सुख लाभ देकर दुःख के गहरे सागर में डुबोकर मार देने वाला है। इसलिये तत्त्वदर्शी ऋषियों का स्पष्ट वक्तव्य है कि स्पर्शादि द्वारा प्राप्त होने वाला सुखभोग महान् दुःख का ही कारण होता है।[1] इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न इस उलटे ज्ञान से ही देव विरोधी असुर सन्तति आत्मा में जन्म लेती है। आत्मा की देव प्रजा वेदमन्त्रों के शुद्ध निर्मल ज्ञान से उत्पन्न होती है। ये देव प्रजाएँ ही मनुष्य को सदा सुखपरिणामी कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त करती हैं। असुर सन्तान आत्मा को भोगोन्मुख करती है तो देव सन्तान आत्मा को पवित्र यज्ञ

---

1. ये संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। —गीता

कर्म के अनुष्ठान के लिये उत्प्रेरित करती हैं। इसलिये देव प्रजा तथा असुर प्रजा का परस्पर सदा युद्ध ठना रहता है। असुर कहते हैं सदा सुख भोग करो तो देव कहते हैं परहित करो। असुर प्रजा परहित साधन के यज्ञ भाव का सदा विध्वंस करने के लिये स्पर्द्धा करती हैं। वे देवप्रजा को जीत कर आत्मा पर अपना ही साम्राज्य कर लेना चाहती है। वेद के ज्ञाता ऋषियों ने इस विषय में अति सुन्दर कथन किया है। वे कहते हैं—

ततोऽसुराउभयीरोषधीर्याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च पशवः—कृत्ययेव त्वद् विषेणेव त्वत् प्रलिलिपुः. उतैव चिद् देवान् अभिभवेमेति।[1]

अर्थात्—असुर प्रजाओं ने देवों को पराजित करने के लिये सभी ओषधियों को जिनसे कि मनुष्य और पशु जीवन प्राप्त करते हैं मानो पाप से, मानो विष से लीप डाला है। नीच असुरों ने जब समस्त खाद्य ओषधिओं को पाप और जहर से युक्त कर दिया तो जिस भी मनुष्य ने खादनीय पदार्थों का भोग किया वही पाप के जहर से मौत का शिकार हो गया। जो पशु पदार्थों का भोग करता वहीं मृत्यु का भागी हो जाता। मनुष्य और पशु घबरा गये। उन्होंने कहा इन विषयुक्त पदार्थों के सेवन से तो हम सदा एक दूसरे के द्वेषी होकर मृत्यु का लाभ कर रहे हैं। हम इनके भोग से नाना कष्ट-दायी रोगों से आक्रान्त होकर मृत्यु दुःख का लाभ कर रहे हैं। मनुष्य और पशुओं ने कहा हम इन विष मिले पदार्थों का सेवन नहीं करेंगे। उन्होंने खाना पीना छोड़ा तो वे शरीर से क्षीण हो गये; कर्म करने की शक्ति भी उनमें न रही। प्रजापति की देव प्रजा जो सदा श्रमशील है, शुभ यज्ञ कर्म की उत्प्रेरक है। उनके सब कार्य तो आखिर मनुष्य और पशु ही तो करते थे और वे खाना पीना छोड़कर क्षीण होकर कर्म करने में शिथिल हो गये। अब देवों का कार्य कौन करता? देवों ने मनुष्य और पशुओं से कहा—भाईयो! तुम कार्य क्यों नहीं करते। मनुष्य और पशु चिल्ला पड़े और बोले हम भूखे प्यासे क्या खाक कर्म करें। देव बोले—तुमने खाना पीना क्यों छोड़ दिया? मनुष्य और पशु बोले—देखो! नीच असुरों ने सारे खाने पीने के पदार्थों में जहर घोल दिया। हम खाते हैं तो मृत्यु (पाप) हमें घेर लेती है। मनुष्य और पशुओं ने पुनः जोर देकर कहा—हे देवगण! देखो तो सही इन संसार के भोग्य पदार्थों के रस पान करने वाले मनुष्य और पशुओं का हाल। ये देखो! इसका शरीर

१. मा. श. २-४-३-२

गलित कुष्ठ से कट-कटकर गिर रहा है। यह देखो ! इसने बहुत से मिष्टान्न खाये तो आज मधुमेह से पीड़ित है। इसके हाथ पैर मौत ने ग्रसित कर लिये। इसकी सुन्दर-सुन्दर आंखों को भरे हरे यौवन में मृत्यु ने छीन लिया। हे देवो ! हमारी समझ में नहीं आता कि हम इस मृत्यु के दारुण विष से कैसे त्राण पायें। हम खाते है तो पाप हमें खा लेता है न खाते हैं तो भूख से मर रहे हैं। हमारी समझ में नहीं आता कि हम खायें कि न खायें।

एक जिज्ञासु ने विनयपूर्वक पूछा—हे महर्षे। असुरों ने मनुष्य और पशुओं की भक्ष्य ओषधियों में पाप का विष कैसे घोल दिया ? हे महर्षे ! संसार में नाना प्रकार के खाद्य पदार्थ हैं, दूध है, घृत है, अन्न है, सुन्दर फल और फूल का मधुर शुद्ध रस मधु है, ये पदार्थ भला पाप से युक्त कैसे हो सकते हैं ?

ऋषि ने उत्तर दिया—भद्रो ! यह सर्वथा सत्य है। संसार का प्रत्येक भोग्य पदार्थ पापविष से लिपा हुआ है। भद्रो ! प्रथम यह जानो खाद्य क्या है ? भोग्य पदार्थ क्या क्या हैं ? संसार के साधारण लोग केवल एक ही भोग्य पदार्थ को भोजन समझते हैं, जिसको कि हम मुख से खाते हैं। इस मुख से सेवनीय खाद्य का आस्वाद जिह्वा द्वारा होता है। भद्रो ! यह तो केवल एक इन्द्रिय का भोजन हुआ। आंखें इस से भी ज्यादा भोजन करने वाली इन्द्रिय है तो कर्ण उससे भी अधिक भोजन करने वाला है। जिह्वा कभी कभी खाती है तो आँख सततभक्षी है तो कान उससे भी बढ़कर चारों ओर के दूर दूर तक के शब्दों का नित्य भोजन करने वाला है। इस प्रकार घ्राण (नासिका) गन्ध का भोजन करता है तो त्वचा नाना अङ्ग वाली होकर स्पर्श का भोजन करती रहती है। इन पांचों इन्द्रियों से भी अधिक एक और सूक्ष्म भोजनकर्त्ता है। इसका नाम है मन। यह विचित्र जन्तु ऐसा है कि जब आंख भी जिह्वा भी कान भी घ्राण भी और त्वचा भी भोजन करने से निवृत हो जाती है तब भी यह मन स्वप्न में नाना भोगों में लिप्त हो जाता है। जिह्वा समीप आये पदार्थ का भोग करती है तो आंख कुछ दूर तक दृश्य का भोग करने में क्षम होती है, कान कुछ और दूर का श्रवणभोग कर लेते हैं। पर मन ! इसकी गति अति दूर से दूर तक है। यह अपना भोजन खाने पता नहीं कहाँ से कहाँ जाया करता है। भद्रो ! यह तो हुई भोजन की वार्ता। देवों के भोजन कर्त्ता मनुष्य और पशु कहीं बाहर नहीं। मन ही देवों का मनुष्य है। इन्द्रियाँ ही उनके कार्यसाधक पशु हैं। ये मन और इन्द्रियाँ ही तो भद्रो ! देवों के समस्त यज्ञकर्म का साधन करते हैं। समस्त ओषधियों का सेवन मन तथा इन्द्रियाँ ही करती हैं। असुरों

ने अर्थात् मनुष्य के अज्ञानजनित भोग भावों ने इस समस्त पदार्थों के आस्वादों में विष मिलाया हुआ है, पाप घोला हुआ है। जिह्वा ने मधुर स्वादिष्ट पदार्थों का सेवन किया तो सुख लाभ के साथ एक वासनारूप पापसंस्कार का विषपान भी साथ ही कर लिया। आँखों ने सुन्दर रूप का भोग किया तो साथ में जो पापविष लगा होता है उसका पान भी आंखें कर जाती हैं। त्वचा द्वारा कोमल स्पर्शसुख का सेवन करते ही पाप का सेवन भी तुरन्त हो जाता है। इन्द्रियों द्वारा यह विषपान उन्हें फिर क्लेशित करता है उसे बार बार विषयभोग के लिये पीडित करता है तथा यह बार बार का भोग आसेवन नाना विध क्लेश, नाना प्रकार के ईर्ष्या द्वेष के दुर्भावों की दाहज्वाला को उत्पन्न कर देता है। फिर मनुष्य अपना विवेक खो देता है। उसकी कर्त्तव्य अकर्त्तव्य की बुद्धि का विनाश हो जाता है। पुनः उसको भोग्याभोग्य का भान नहीं रहता और परिणाम में मन और इन्द्रियों को दारुण दुःख उठाना पड़ता है।

भद्रो ! देखो प्राचीनकाल की एक वार्ता है।[1] महर्षि भरद्वाज का एक पुत्र था। उसका नाम यवक्रीत था। यवक्रीत अत्यन्त मेधावी और सुन्दर देह वाला था। महर्षि भरद्वाज ने अपने मेधावी पुत्र को नाना विद्या प्रदान की। बुद्धिमान् यवक्रीत ने भी विद्याग्रहण में महान् तप किया और समस्त विद्याओं को कण्ठाग्र कर लिया। यवक्रीत के सुन्दर शरीर तथा विद्या की बराबरी का एक दिन कोई नहीं रहा। बड़े बड़े वृद्ध ऋषि भी उसकी प्रखर बुद्धि का लोहा मानने लगे। यवक्रीत का सर्वत्र मान होने लगा। राजा महाराजा यवक्रीत को नाना प्रकार की भेंट अर्पित करने लगे। यवक्रीत बहु विद्या और भौतिक ऐश्वर्य को पाकर भोग में लिप्त हो गया। उसके कण्ठ में वर्तमान विद्या यह सूक्ष्म रहस्य का बोध नहीं करा पाई कि भोग्यपदार्थों में असुरों ने पाप का विष घोला हुआ है। यवक्रीत की इस भोगप्रवृत्ति को देखकर, उसके दर्पभाव को देखकर वृद्ध पिता भरद्वाज ने समझाया कि—पुत्र ! विद्या-वैभव का दर्प अति विनाशी है। संसार के भोग पदार्थों में लगे पापविष का पान मनुष्य का अतिविनाशी है। शास्त्रों को कण्ठाग्र कर लेने से प्रतिवादी को हराया जा सकता है पर आत्मविजय का लाभ करना उससे सम्भव नहीं। हे पुत्र यवक्रीत ! आत्मजित् होने के लिये मन्त्रों के पवित्र ज्ञान को आत्मगत करने की आवश्यकता है। शब्दविद्या के हेतु मिली मानप्रतिष्ठा और धनवैभव के अहङ्कार से यवक्रीत का मन मलिन हो चुका था। भोगों के आसुर विष से वह दूषित हो चुका था। उसने विज्ञानी पिता के हितकारी वचनों पर कुछ भी

१. महाभारत वनपर्व अध्याय २३५ से यह कथा वर्णन आरम्भ होता है।

ध्यान नहीं दिया। भोगासक्ति रूप विष उसके शरीर के कण कण में फैल गया। ज्यों ज्यों वह ऐश्वर्यसेवी होता गया भोगभाव की ज्वालाएँ विकराल रूप लेती गईं।

भद्रो ! एक दिन महादर्पी यवक्रीत के मन में इर्ष्या की उत्कट ज्वाला उठी और उसने सोचा रैभ्य मुनि की बड़ी कीर्ति है। उसकी विद्या का बहुयश है। मैं उसको शास्त्रार्थ में पराजित करके उसका मान भङ्ग करूँगा। द्वेषावेष्टित यवक्रीत एक दिन रैभ्य मुनि के आश्रम में वाग्युद्ध करने के लिए चल दिया। वसन्त ऋतु के वैशाख मास में जब यवक्रीत मुनिराज रैभ्य के विशाल आश्रम में पहुंचा तो चारों ओर सुन्दर पुष्पपत्रों का मनोहारी विकास था। सुखवाही पवन से सारा वातावरण ओतप्रोत था। रैभ्य मुनि आश्रम से बाहर गये हुए थे। रैभ्य मुनि के पुत्र परावसु की यौवनसम्पन्न रूपवती पत्नी किन्नरी की भाँति फूलों के मध्य विहार कर रही थी। यवक्रीत का मन सांसारिक भोगों के पापविष से ग्रस्त था। पापवासनाओं ने उसकी आत्मा को पूर्णतया मलिन कर दिया था। उसकी कर्त्तव्याकर्त्तव्य की बुद्धि का विनाश हो चुका था। ऐश्वर्यभोगी और अतिदर्पी यवक्रीत की पापदृष्टि ने जब रैभ्य मुनि की पुत्रवधू को एकान्त में देखा तो उसके बढ़े हुए पापभावों का आवेग सर्वथा अरोध्य हो गया। उसे रैभ्य मुनि के प्रताप प्रभाव का भी कोई ध्यान नहीं रहा। वेदशास्त्र का पाठ जो केवल कण्ठ में था भोगभावों के प्रवल आवेश के सामने कुछ भी काम नहीं आया। वस्तुतः यवक्रीत की विद्या मात्र परमानभञ्जन के लिए थी न कि अपनी आत्मा के कल्याण के लिए। यवक्रीत उस सुन्दर आश्रमवासिनी के रूप को देखकर मोहित हो गया। वह निर्लज्ज होकर मुनि की पुत्रवधू से बोला—हे सुन्दरी ! तू मेरी सेवा में उपस्थित हो। परावसु की धर्मशीला पत्नी अतिथिभक्ति के भाव से यवक्रीत के समीप चली गई तो नीचमति यवक्रीत उसे बलात् एकान्त में ले जाकर पाप के समुद्र में डूब गया। इतने में ही प्रतापी मुनि रैभ्य आश्रम में लौट आये। मुनि ने देखा उसकी पुत्रवधू आर्तभाव से रो रही है। मुनि ने रोने का कारण पूछा तो उसने यवक्रीत के नीच कर्म की कथा कही। रैभ्य मुनि बड़े तेजस्वी और प्रतापी थे। उनका जनता पर अतिप्रभाव था। उनके शिष्यों और भक्तों की संख्या बहुत बड़ी थी। रैभ्य मुनि की प्रेरणा से लोग एकदम यवक्रीत को मारने दौड़े तो पापी यवक्रीत वहाँ से भागता हुआ अपने वृद्ध पिता के आश्रम में शरण लेने आ घुसा। पर रैभ्य मुनि के भक्तों ने उसका पीछा नहीं छोड़ा और वे यवक्रीत को दण्डित करने के लिए आश्रम में भी

पहुंच गये। महर्षि भरद्वाज ने अपने पापी पुत्र को शरण देने से सर्वथा निषेध कर दिया। वृद्ध भरद्वाज ने खेदपूर्वक कहा—हे यवक्रीत ! जब तू अहङ्कार आवेष्टित होकर विज्ञानी ऋषियों की अवहेलना करने में लगा था, भोगों में लिप्त होने लगा था, मैंने तो तभी कह दिया था—

स दर्पपूर्णः कृपणः क्षिप्रमेव विनङ्क्ष्यति[1]

हे यवक्रीत तू अपने पापों का फल भोग। यवक्रीत पिताजी से निरादृत होकर अपनी रक्षा के लिए आश्रम की यज्ञशाला में छिपने के लिए भागा, परन्तु यज्ञशाला के रक्षक ने पापी यवक्रीत को बाहर धकेल दिया और लोगों ने देखा रैभ्यमुनि के भक्तों ने यवक्रीत की भोगासक्त आँखें फोड़ डाली। उसकी नाना रससेवी रसना काट डाली। उसके स्पर्शसुखभोगी अङ्ग टुकड़े-टुकड़े कर दिये। रोते बिलखते छटपटाते यवक्रीत ने अल्पायु में ही अपने प्राणों से हाथ धो लिया। उसका अपार वैभव छूट गया। इसलिए ऋषियों ने समीचीन (ठीक) ही कहा कहा है—संसार के भोग्य पदार्थ पापविष से लिप्त हैं। उनके सेवन से पापवासनाओं को जीवन मिलता है।

एक प्रबुद्ध जिज्ञासु ने नम्रतापूर्वक पूछा—हे महर्षे ! संसार का प्रत्येक भोग्य पदार्थ पाप विष से संलिप्त है पर अन्न दूध फल घृत आदि के सेवन के विना तो जीवन निर्वाह सम्भव नहीं। फिर मनुष्य का पाप से बच सकना कैसे सम्भव होगा ?

ऋषि बोले—भद्रो ! इस पापविष से बचने का उपाय देवों ने खोज लिया था। ऋषियों ने वेद के पवित्र ज्ञान से पापविष के निवारण का रास्ता पा लिया था।

देवों ने वेदवाक् से पूछा—हे वेदवाणी ! इन मनुष्य और पशुओं (मन तथा इन्द्रियों को) को जो नित्य पापविष घेरे जा रहा है, हम उसका निवारण करना चाहते हैं। पर कैसे करें ? यह हमें बताओ। प्रभु की वेद-वाणी ने देवों से कहा—देवो ! भोग्य पदार्थों के सेवन से लगने वाले पाप से बचने का केवल एक ही उपाय है, वह है—

यज्ञेनैवेति[2]

---

१. महाभारत वनपर्व २३५-४४। इसका अर्थ है—वह अहङ्कारी यवक्रीत शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होगा !

२. मा॰ श॰ २-४-३-३

अर्थात् मात्र यज्ञ द्वारा उस पापविष का निवारण किया जा सकता है। बस देवों ने और ऋषियों ने जान लिया कि यज्ञधूम से अन्नादि समस्त भोग्य-पदार्थों में लिप्त पापविष का निवारण किया जा सकता है। इसलिये वे जब भी किसी पदार्थ का भोग करते हैं तो उसे यज्ञ की पवित्र गन्ध से निष्पाप करते हैं।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने आगे कहा—भद्रो ! मैं एक बार कुषीतक के विज्ञानी पुत्र कहोड़ के आश्रम में गया। मैंने देखा विज्ञानी कहोड़ नवधान्य (अन्न) के पकने पर एक विशाल यज्ञ का अनुष्ठान कर रहे थे। मैंने विज्ञानी कहोड़ से प्रश्न किया—हे वेदवेत्ता कहोड़ ! इस नवान्न का होम आप क्यों कर रहे हैं ! इस महायज्ञ के अनुष्ठान का रहस्य क्या है ?

भद्रो ! महाविज्ञानी कहोड़ ने विनय के साथ उत्तर दिया—हे याज्ञवल्क्य ! ये अन्नादि पदार्थ द्युलोक और पृथिवी के रस रूप हैं। इन के रस का प्रथम देवों के लिये होम करके ही पुनः शरीरधारण के लिये जो ग्रहण करते हैं वे पापों से बच जाते हैं। हम आश्रमवासी द्यावा पृथिवी के रस का यज्ञार्थ होम करके ही उनका सदा सेवन करते हैं यही कारण है आश्रमवासियों में पाप का प्रादुर्भाव नहीं, काम क्रोध का विनाशक उद्रेक नहीं। इस होम से मनुष्य का सदा अग्र अयन (गमन) होता है। इस यज्ञ का कर्त्ता कदापि अधोगामी नहीं होता। इसलिये इस यज्ञ का नाम वेदज्ञ ऋषियों ने आग्रायण यज्ञ रखा है।[1]

एक जिज्ञासु ने कहा—महर्षे ! अन्नादि के होम से आत्मा पापमुक्त हो सकता है, यह बात हमारी समझ में नहीं आई। बड़े-बड़े याज्ञिक भी पाप-कर्मी देखे जाते हैं। उनमें काम क्रोध आदि पापभाव दृष्टिगोचर होते हैं। अग्नि में घी आदि पदार्थ डालने से वायु आदि की शुद्धि तो हो सकती है पर आत्मा की शुद्धि की सम्भावना हमें दिखाई नहीं देती।

ऋषि ने उत्तर दिया—भद्र ! नवान्न के कुछ दाने भौतिक अग्नि में स्वाहाकार पूर्वक डाल देना ही आग्रायण यज्ञ नहीं। जो याजक केवल इस बाह्य होम मात्र को करता है, उसका यज्ञानुष्ठान बहुत अधूरा है। उसका यह कृत्य भद्र ऐसा है जैसे कोई आम के मधुर स्वादु रस का परित्याग करके उसकी मात्र गुठली को चाटता हो। जैसे कोई दही के सार नवनीत (मक्खन) को

---

१. तदु होवाच कहोड़: कौषीतकिः—अनयो वा अयं द्यावापृथिव्यो रसः इत्याह। —मा॰ श॰ २-४-३-१

छोड़कर मात्र तक्र का सेवन करे। जैसे कोई माता पिता को छोड़ उनके चित्रों का पूजन करे। भौतिक अग्नि में घृतादि पदार्थ का होम यद्यपि एक उपकार का कृत्य है। इस होम से वायु आदि का शोधन होता है। परन्तु यह कृत्य बहुत गौण, बहुत अधूरा है। यज्ञधूम से पवित्र किये अन्न जल उत्तम स्वास्थ्य के प्रदाता हैं। आत्मा की शुद्धि करना मुख्य यज्ञ है। यदि मन दूषित है इन्द्रियाँ विकारवान् है तो स्वस्थ शरीर किस काम का। इसलिये भद्रो ! धरती और आकाश के पदार्थों के भोग से जिस संस्कार की उत्पत्ति होती है, मन इन्द्रियों द्वारा आत्मा जिस अन्न का ग्रहण करता है, सच्चा यज्ञ तो उसी अन्न को, उन्हीं भोगजनित संस्कारों को ज्ञानज्योति से पवित्र करना है। जो जन प्रत्येक नवीन इन्द्रियभोग से पूर्व ज्ञानाग्नि के लिये उन्हें अर्पित करके मात्र पवित्र यज्ञकर्म के अनुष्ठान की शक्ति लाभ के लिये उनका ग्रहण करता है। वह सचमुच भोग्य पदार्थ के साथ लगे पापविष से बच जाता है। बाह्य होमों में उच्चारित किये जाने वाले पवित्र मन्त्र उसी ज्ञानज्योति को आत्मा में प्रकट करते हैं। वह पवित्र ज्ञानज्योति असुरों द्वारा संलेपित पापविष का दहन कर देती है। महामुनि कहोड़ केवल बाह्य होम में रत नहीं रहते अपितु वे अपनी आत्मा में मन्त्रज्ञान की पवित्रधारा का होम करते हैं। इस आत्मयज्ञ का अनुष्ठाता खाद्य-पदार्थों का सेवन फिर स्वाद के लिये नहीं करता अपितु शुभ-कर्म के अनुष्ठान की शक्ति प्राप्त करने के लिये करता है।

वह वस्त्र धारण करता है केवल सर्दी के निवारण के लिये, गुप्ताङ्गों के छादन के लिये न कि प्रदर्शन के लिये। वह घर बनाता है पर सुखशयन के लिये नहीं अपितु थके शरीर को विश्राम देने के लिये, जिससे वह पुनः पुण्यकर्मों का अनुष्ठान कर सके। इसी पवित्र ज्योति को आत्मगत रखने के लिये ही भद्रो ! ऋषियों ने प्रत्येक नवीन उपयोज्य वस्तु के उपयोग से प्राक् (पहले) यज्ञानुष्ठान का विधान किया। चाहे नये यव (जौ) घर में आये चाहे नवीन व्रीहि (धान), गृहस्थ उसको प्रथम यज्ञ की अग्नि के अर्पित करते। जिसका भाव है कि हम इस अन्न का सेवन केवल शुभकर्मरूप यज्ञ के विस्तार के लिये करेंगे। जैसे हवन की अग्नि में पड़ी आहुति प्राणिमात्र के हित के लिये हो गई, ठीक जैसे ही हमारा अन्नसेवन भोग के लिये नहीं अपितु सर्वहितसाधक पवित्र कर्म के लिये होगा। गृहस्थजन ने घर बनाया तो भद्रो ! देखो वह उसमें प्रवेश से पूर्व यज्ञ का अनुष्ठान करता है। उसका भाव भी यही है कि मैं इस घर में निवास करके पवित्र यज्ञकर्म का ही सदा विस्तार करूंगा।

भद्र श्रावको ! परन्तु जब से यह वेद का पवित्र विज्ञान समाप्त हो

गया। प्रदर्शन मात्र के लिये केवल यज्ञ होमों का अनुष्ठान किया जाने लगा तो पापविष ने मानव को जकड़ लिया। इसलिये सदा सावधान रहो। सदा याद रखो। यज्ञभाव से विरत होकर यदि संसार के पदार्थों का भोग किया तो यह विषपान के तुल्य दारुण क्लेश का हेतु ही होगा। इस पाप से बचने के लिये ही ऋषि और देव जन सदा नवभोग्य पदार्थ के सेवन से पूर्व यज्ञिय-ज्ञानज्योति से उसे पवित्र करते हैं। यही ऋषियों का आग्रायणेष्टि करने का रहस्य है। कुषीतक पुत्र कहोड़ इसी आग्रयण इष्टि का उपदेश पापविनाश के लिये करते हैं। आग्रायणहोमी सदा आगे ही बढता जाता है। उसके पतन की आशङ्का फिर नहीं रहती। ऋषियों ने सर्वथा सत्य ही कहा है—

यज्ञेन ह स्म वै तद् देवा कल्पयन्ते यदेषां कल्प्यमास[1]

अर्थात्—देवजन जो भी कुछ करने में सफल हुये वह इस पवित्र ज्ञान-यज्ञ के द्वारा ही समझो।

ऋषि ने इतना कहकर अपने वक्तव्य को विराम दिया। जिज्ञासुजनों के मुख से निकला—हे ऋषिराज ! हमारी शङ्का का समाधान हो गया। हम अब समझ गये कि जो व्यक्ति पदार्थों का सेवन केवल सुखभोग के लिये करता है, वह निश्चयेन पापविष का सेवन करने में लगा है। उसके सुखभोग का परिणाम अन्त में दारुणदुःख ही होगा। इसके विपरीत जो व्यक्ति परहित-साधक यज्ञकर्म के लिये पदार्थों का सेवनकर्ता है, वह सदा आग्रायण—अग्रगामी होकर पाप वासनाओं से मुक्त होकर ऊर्ध्वगति और परमशान्ति का लाभ करेगा। हे ऋषिराज ! हम इस वैदिक ज्ञान को पाकर कृतार्थ हो गये। हम आपका बार-बार वन्दन करते हैं।

ऋषि ने आशीर्वाद दिया—तुम सच्चे याजक होकर आग्रायण (अग्रगामी) होने में साफल्य लाभ करो।

—

1. मा. श. २-४-३-३

षोडशः पथः

प्रजापति भगवान् का ऐश्वर्य तो महान् है पर वह हमें कैसे मिले ?

प्रजापति परमेश्वर का ऐश्वर्य अपार है। मनुष्य के पास छोटे-छोटे टिमटिमाते दीपक हैं पर भगवान् प्रजापति के पास अनन्त प्रकाश का प्रदाता सूर्य है। प्रभु का महादीप उदय हुआ कि मानवीय दीप निष्प्रभ हो जाते हैं। धरती का कोना-कोना महादीप सूर्य के प्रकाश से सद्य (तुरन्त) प्रकाशित हो जाता है। इतना ही नहीं निर्मल रात्रि में जब हमने ऊपर आंख उठाकर देखा तो प्रजापति भगवान् के अनगिनत दीप आकाश में देखकर हम चकित रह गये। दूर तक, पता नहीं कहाँ तक उस प्रभु के दीपों का विस्तार है। प्रभु के फैले इन अनन्त दीपों के विस्तार को, इनकी अन्तिम सीमा का कोई महाविज्ञानी भी अनुमान नहीं लगा पाया। इधर तीव्र तेजःपुञ्ज सूर्य अस्त हुआ तो उधर शीतांशु (चन्द्रमा) का उदय हो गया। सारी धरती उसके दूध के समान शुभ्र प्रकाश से जगमगा गई। विज्ञजनों का वक्तव्य है कि यह सूर्य केवल एक ही नहीं अपितु अनेकों चन्द्रमाओं को प्रकाश देकर उन्हें प्रकाशित करता है। नाना लोक-लोकान्तरों को प्रकाशित कर देने वाले इस सूर्य को प्रकाशमान् रखने के लिये कितने तेल, कितनी ऊर्जा की आवश्यकता है, मानवबुद्धि इसका ठीक अनुमान लगाने में भी कृतकारी नहीं। अहो ! उस प्रभु के पास अनन्त ऊर्जा है अनन्त शक्ति है। वह केवल इस दृश्यमान सूर्य का ही स्वामी नहीं अपितु अज्ञात विस्तार तक उसके सूर्यों का वितान है। लाखों सूर्यों का अनुमान तो विज्ञानी लोगों को हो चुका है पर इनकी संख्या ज्ञात कर पाना सम्भव नहीं। परमदेव का ऐश्वर्य सचमुच अपार है।

यह देखो गर्मी से सब कुछ तप रहा है। कूप और तडाग (तालाब) भी सूखने लगे। बड़े-बड़े विटप (वृक्ष) भी पानी के बिना म्लान हो गये। पर सहसा बादलों की काली घटा आई और तपती धरती का सारा ताप क्षण भर में दूर हो गया। छोटी बड़ी सारी वनस्पतियाँ हर्षा गईं। नये-नये पत्तों के विकास से वे मानों मुस्करा गईं। जो पक्षी पहले शोकाकुल थे अब वे चहचहा उठे। मोर नाच पड़े। किं बहुना

क्वचिन्नदीनां बहुवारिवेगा क्वचित् तडागेषु जलप्रवृद्धिः ।
क्वचित् खगानां गगने प्रडीनमहो मनोहारि जगत् प्रपन्नम् ॥[1]

अर्थात्—कहीं देखो तो नदियाँ उमड़ती उफनती सी वह रही हैं तो कहीं बड़े बड़े सरोवर जल से भर गये हैं। कहीं आकाश में बादलों के साथ पक्षी विहार कर रहे तो कहीं सरोवर में जलचर कल्लोल कर रहे हैं। कुछ ही समय में सारी धरती का रूप बदल कर मनोहारी हो गया। छोटे नासमझ बालक पूछते हैं भगवान् के पास इतना जल कहाँ से आया ? पर जब वे अपार जलराशि समुद्र को देखेंगे तो उन्हें पता लगेगा भगवान् का जलभण्डार कितना विशाल है।

उस प्रजापति भगवान् के ऐश्वर्य का कोई ठिकाना नहीं, कोई सीमा नहीं। अनन्त रत्नभण्डार वाली पृथ्वी का वही अकेला स्वामी है। अनन्त तारामण्डल का वही अकेला अधिपति है। अतुलित ऐश्वर्य के स्वामी प्रजापति ने सोचा मैं अकेला हूँ। मुझे अपनी प्रजा बनानी चाहिये। भगवान् प्रजापति ने अपने अनुरूप ही अपनी प्रजा बनाई। भगवान् प्रजापति सर्वदर्शी हैं तो उसकी प्रजा भी कुछ दूर तक देखने वाली है। प्रजापति भगवान् सर्वत्र सुनने वाला है तो यह छोटा प्रजापति भी कुछ दूर तक की वार्ताओं का श्रोता है। प्रजापति भगवान् ने उसे अनेक ज्ञानसाधन तथा कर्म करने के उपकरण हाथ-पैर देकर धरती पर उतार दिया।

पर प्रजापति की प्रजारूप छोटे प्रजापति का ऐश्वर्य अतिविनाशी है। यह छोटा प्रजापति ऐश्वर्य लाभ की इच्छा तो बड़ी बड़ी करता है पर इसकी इच्छाएँ प्रायः शून्यविहारी होकर धूल ही चाटती हैं। इसने खेत में बीज डाले और धनलाभ की बड़ी बड़ी उड़ान भर ली। पर खेत में पौधे उगे, कुछ बड़े हुये और पानी के बिना सूख गये। ऐश्वर्यकामी किसान खेद भरी आंखों से आकाश को देखता है पर विशाल आकाश मेघशून्य है। मेघ आया तो इसका मनपंछी आनन्दविभोर हो गया, सोचा पानी बरसेगा, धरती धन उपजेगी पर मेघ बिना बूंद डाले आगे बढ़ गया और उसका पंछी मन भू पर पंख कटा सा होकर गिर पड़ा। उसकी भूखी भूखी आंखे आसमान को ताकती ही रह गईं। सारा खेत सूख गया, घर में अन्न आने की बात छोड़ो पशुओं को जीवित रखने के लिये चारा भी न मिल सका। चारों तरफ हाहाकार मच गया। श्रमपालित पशु भूख से अस्थिपञ्जर होकर मरने लगे। आहार के

---

१. यह पद्य लेखक के वर्षापञ्चक का है।

विना इसके बच्चे सूखने लगे। दुःख के मारे यौवन में ही वृद्धावस्था की जीर्णता आ गई। सारी ऐश्वर्यकामी विहग सी उड़ान भरने वाली इच्छाएं धड़ाम से धरती पर गिर कर प्राण छोड़ गईं। प्रजापति भगवान् ने देखा मेरी ऐश्वर्य-कामी प्रजा मर रही है। उसकी सब धन वैभव की उड़ान मिट्टी में मिल रही है। प्रजापति भगवान् अकेले के अकेले ऐश्वर्यवान् रह गये। दयालु प्रजापति ने पुनः अपनी प्रजा की सर्जना की। उसे फिर कार्य करने की शक्ति देकर धरती पर उतारा। प्रजापति की यह दूसरी प्रजा केवल मन के मोदक (लड्डू) खाने वाली नहीं थी। वह केवल ऐश्वर्य की कामना ही नहीं करती अपितु उसे प्राप्त करने के लिये श्रमशील भी थी। उसने देखा वादल हमारी इच्छा के अनु-कूल पानी नहीं वरसाते तो उन्होंने नदियों के बहते पानी को अपने पुरुषार्थ से रोक दिया। नहर बना कर अपने खेतों में पहुँचा दिया। जिन खेतों में प्रायः धूल ही उड़ा करती थी, अब उनमें सदा हरियाली रहने लगी। प्रजापति की इस पुरुषार्थी प्रजा ने ऐश्वर्यशाली बनने के लिये धरती को खोदकर उसके पेट से पानी निकाल लिया। अपने अन्न को सुरक्षित रखने के लिये अच्छे घर भी बना लिये। प्रजापति की इस दूसरी प्रजा ने सोचा अब हमारा ऐश्वर्य स्थाई हो गया। भूख प्यास से सदा के लिये हमें त्राण मिल गया। अब सर्दी गर्मी का हमें भय नहीं रहा।

परन्तु एक दिन आया और ऐश्वर्यशाली प्रजा ने सुना कि एक बलशाली व्यक्ति बहुत बड़ी सेना के साथ सब खेतों को उजाड़ता आ रहा है। वह बहुश्रम से बनाये सजे सजाए घरों को लूटता पाटता और आग लगाता बढ़ा आ रहा। कुछ ही दिनों में प्रजापति की यह ऐश्वर्य सुख सेवी प्रजा नंगी भूखी हो गई। इनकी प्यारी प्यारी कन्याओं को खुले बाजार में पशुओं के समान बेचा जाने लगा। इनकी प्राणप्यारी पत्नियों को दासी वनाया जाने लगा। चारों तरफ विनाश का भयङ्कर ताण्डवनृत्य होने लगा।

हजारों नहीं लाखों लोगों को लोहे की बेडियों से बान्ध कर खुली तपती धरती पर डाल दिया। बहुश्रम से जोड़ा ऐश्वर्य क्षणमात्र में ही छिन्न हो गया। बने बनाये खेतों से वञ्चित कर दिया गया।

एक दिन बलवान् तैमूरलङ्ग के सलाहकार जहाँशाह और सुलेमान ने कहा जब से हजरत अमीर हिन्द में आये हैं तब से एक लाख से भी ज्यादा काफिर (हिन्दू) कैदी हो गये हैं। लड़ाई के इन दिनों में एक लाख लोगों को लश्कर (कैम्प) में बन्दी बना कर रखना भी बड़ा कठिन कार्य है। इन काफिरों को जीवित रखने से क्या लाभ ? और तैमूर ने तुरन्त मुनादी करादी कि

जिसके पास जो हिन्दू बन्दी है उसको तत्काल कत्ल कर दिया जाये। जो इन्हें मारने में सुस्ती करेगा उसको भी मौत के घाट उतार दिया जायेगा। देखते ही देखते प्रजापति की बहुश्रमी प्रजा के सिर कट कर धरती पर आ गिरे। जिन्होंने अपनी जिन्दगी में एक चिड़िया भी नहीं मारी थी उन्होंने भी दस पन्द्रह आदमियों को अपनी तलवार से काट डाला।

भगवान् प्रजापति ने देखा मेरी प्रजा फिर मर रही है, विनाश को प्राप्त हो रही है। ऐश्वर्यविहीन होकर छटपटा रही है। दयालु प्रजापति को बड़ी दया आई। उसने कहा मेरी दुर्बल प्रजा को बलवान मार डालते हैं। अब की बार मैं अपनी प्रजा को बलशाली बनाता हूँ। प्रजापति भगवान् ने तीसरी बार फिर प्रजा की सर्जना की। इस बार क्षुद्र कीड़ों के समान शीघ्र विनाशी के स्थान पर उसने बलशाली नाग के समान प्रजा को बनाया। इस बलशाली प्रजा ने अतुल ऐश्वर्य का सञ्चय किया। बड़े बड़े शत्रुओं को पराजय का मुंह दिखाकर अपने ऐश्वर्य की रक्षा की। चारों तरफ ऐश्वर्य का साम्राज्य छा गया। अन्न धन फल फूल दूध घी के घर घर में ढेर लग गये। अपने इस विपुल ऐश्वर्य के अहङ्कार में लोग अपने बहु विभवी पिता प्रजापति को भी भूल गये। भगवान् प्रजापति अपनी फलती-फूलती प्रजा को देखकर अति प्रसन्न थे। धन धान्य और बहुबलशाली इस प्रजा के विनाश की कोई सम्भावना भी नहीं कर सकता था। कितने ही शत्रु इनके ऐश्वर्य को लूटने की कामना से आये पर यहाँ की धूल में ही मिल गये।

पर बहुत दिन नहीं हुये कि सर्प सी शक्तिसम्पन्न प्रजा के भी विनाश के लक्षण प्रकट होने लगे। इनका विनाश न अन्न धन के अभाव में प्रकट हुआ और न ही तैमूर जैसे क्रूर शत्रु ने इनका विनाश किया। इनके विनाश के कुछ दर्शन यहाँ कीजिये—महाराणा कुम्भा का प्रताप दिग्दिगन्त में व्याप्त था। मेवाड़ के घर घर में सुखदायी वैभव का विकास था। शत्रुओं की क्या हिम्मत की मेवाड़ की ओर आंख उठाये। मेवाड़ के वीर राजपूतों का अनुपम शौर्य अपनी रक्षा में सर्वथा समर्थ है। चित्तौड़ जैसे मजबूत किले में उनकी अजेया राजधानी है। प्रतापी कुम्भा की मृत्यु के पश्चात् इस ऐश्वर्यशाली राज्य के अधिपति उनके ज्येष्ठपुत्र रायमल्ल बने। रायमल्ल के बहुविध ऐश्वर्य के सेवी ये तीन राजकुमार हैं। इनके ऐश्वर्य भोग को देख कर जन-जन इन्हें अति भाग्यशाली मानता है। बड़े राजकुमार पृथ्वीराज हैं तो छोटे वाले संग्रामसिंह और बीच वाले कुमार हैं जयमल्ल। नियमतः पृथ्वीराज राजगद्दी का उत्तराधिकारी था। पर यहाँ तो प्रत्येक राजगद्दी का भूखा था।

राजगद्दी पाने के लिये एक दूसरे को मरने मारने में भी इन्हें संकोच नहीं था। एक दिन तीनों ने अपनी अपनी जन्मपत्री एक ज्योतिषी को दिखाई और पूछा हम में चित्तौड़ की राजगद्दी का स्वामी कौन होगा। भविष्यवक्ता ज्योतिषी ने कहा ग्रह तो पृथ्वीराज और जयमल्ल के भी अच्छे हैं पर राज पायेगा संग्रामसिंह। ज्योतिषी का कथन सुनते ही पृथ्वीराज और जयमल्ल का क्रोध उबल पड़ा। राजभोग की लालसा ने उन्हें अन्धा वना दिया। उनका कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णायक विवेक नष्ट हो गया। पृथ्वीराज और जयमल दोनों ने संग्रामसिंह को मारने का निश्चय कर लिया। उनके मजबूत बाहु शत्रु के विनाश के लिये नहीं अपितु अपने ही भाई को मार डालने के लिये लालायित हो गये। उनकी वड़ी बड़ी आंखें भाई को मारने का राह खोज रही थी। एक दिन अवसर पाकर वड़े राजकुमार पृथ्वीराज ने अपने छोटे भाई पर तलवार का वार कर ही दिया। संग्रामसिंह तो बच गया पर उसकी एक आंख सदा के लिये अन्धी हो गई। महाराणा रायमल्ल के छोटे भाई सूरजमल ने बीच बचाव किया नहीं तो एक न एक राजकुमार निश्चितरूपेण मौत का ग्रास बन जाता। आपस की ईर्ष्या द्वेष की यह सर्वविनाशी ज्वाला यहीं शान्त नहीं हुई। राजैश्वर्य भोग की भूख ने सारे राजकुमारों को अन्धा वना दिया। समझदार चाचा सूरजमल ने बहुत समझाया, पर कुछ असर नहीं हुआ। पिता के जीते जी ही गद्दी की लड़ाई चल पड़ी। चाचा सूरजमल ने एक दिन कहा—आपस में क्यों कटते-मरते हो। देखो, भीमल गांव में एक चारण की बेटी वड़ी सिद्ध है। उसके पास जाकर पूछ लो, मेवाड़ का भावी राजा कौन होगा ? तीनों भाई अपने चाचा सूरजमल के साथ भीमल गांवं राजगद्दी का निर्णय कराने चल पड़े। पहुँचने पर चारणपुत्री वीरी ने कहा—हे राजकुमारो ! आज तो तुम अपने डेरे पर जाओ, कल आना। तीनों राजकुमार अपने चाचा के साथ अगले दिन पहुँचे। पृथ्वीराज जाकर एक सिंहासन पर बैठ गया तो उसके साथ ही जयमल भी एक कोने पर बैठ गया। संग्रामसिंह पास विछी एक गद्दी पर जा बैठा तथा उसके पास ही उनके चाचा सूरजमल बैठ गये। वीरी देवी आई तो राजकुमारों ने उसे प्रणाम करके अपनी वात पूछनी चाही, तब वीरी देवी ने कहा—तुम्हारी वात का उत्तर तो मिल चुका है। मैंने यह गद्दी मेवाड़ के भावी स्वामी के लिये विछाई थी और उस पर संग्रामसिंह बैठ गया है। अतः मेवाड़ की गद्दी का स्वामी संग्रामसिंह ही होगा। यह सुनकर पृथ्वीराज और जयमल की क्रोधाग्नि भड़क गई और दोनों ने संग्रामसिंह के ऊपर शस्त्र चलाना शुरू कर दिया। संग्रामसिंह भी तैयार था। आपस की इस लड़ाई में पृथ्वीराज और सूरजमल तो घायल होकर गिर

पड़े और संग्रामसिंह घोड़े पर चढ़कर भाग निकला। वह खून में लथपथ हुआ एक मन्दिर में पहुँचा, जहाँ राठोड़ वीदा जैतमल्लोत भी दर्शन करने आया था। उसने संग्रामसिंह के घावों पर पट्टी बांधी तो पीछे से जयमल ने सोचा पृथ्वीराज तो मारा गया और संग्रामसिंह को भी मार दिया जाय तो तू ही मेवाड़ का स्वामी रह जायेगा। जयमल इसी विचार में डूबा संग्रामसिंह का पीछा करते हुये उसी मन्दिर में पहुँचा और वीदा से कहा—संग्रामसिंह को हमें सौंप दे नहीं तो तू मारा जायेगा। राठोड़ वीदा ने संग्रामसिंह को देना अस्वीकार किया तो जयमल ने उस पर आक्रमण कर दिया। वीदा ने संग्रामसिंह को मारवाड़ की ओर भेज दिया और स्वयं जयमल के साथ लड़ाई में मारा गया। महाराणा रायमल्ल का पुत्र मारवाड़ के गांव में भूखा नंगा भटकता रहा, किसी बलशाली शत्रु के भय से नहीं, अपितु अपने ही भाई द्वारा मार दिये जाने के भय से। राजमहल का ऐश्वर्यभोगी राजकुमार गडरिया की भेड़ चराता फिर रहा है।[1]

प्रजापति भगवान् ने देखा मेरी यह बलशाली प्रजा तो आपस में ही लड़ मर कर विनाश को प्राप्त हो रही है। प्रजापति ने अपनी इस बलशाली प्रजा का विनाश कभी कुरुक्षेत्र के मैदान में देखा तो कभी राजमहलों में। प्रजापति ने सोचा मैंने तीन वार प्रजाओं की सर्जना की पर मेरी तीनों प्रकार की प्रजा विनाश ही को प्राप्त हो गई। कर्महीन ऐश्वर्यकामी जन का विनाश तो सहज है। बहुश्रमी दुर्बल जन भी कीट पतङ्गों के समान दूसरों द्वारा कुचल दिये जाते हैं पर ये श्रमी और बलवान् जन भी विनाश की राह पर ही चल दिये, इसका कारण कुछ समझ में नहीं आया। प्रजापति भगवान् ने गम्भीरता से विचार किया तो ज्ञात हुआ—

अनशनतया वै मे प्रजा पराभवन्ति।[2]

अर्थात्—जिस अन्न के सेवन से मुझ प्रजापति का ऐश्वर्य सदा स्थिर है, सर्वदा एक समान है, उस अन्न के अभाव में यह मानवी प्रजा पराभव को प्राप्त हो रही है। इनकी आत्मा में प्रकाश नहीं अन्धेरा है। इनकी आत्मा अन्नलाभ के बिना भूखी है, अतृप्त है, प्यासी है। संसार के पदार्थ इस भूख और प्यास को कदापि मिटा नहीं सकते। यही कारण है, पर्याप्त खाद्य पेय पाकर भी ये एक दूसरे को मारने में तत्पर हैं। ऋषियों ने प्रजापति की वेदवाक् का गान किया—

---

१. यह घटना वीरविनोद नामक ग्रन्थ के प्रथम भाग, पृष्ठ ३४४ पर कविराज श्यामलदास ने विस्तार से लिखी है।

२. मा. श. २-५-१-४

प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुः[1]

आत्मीय अन्नलाभ के बिना तीनों प्रजाएँ दुर्गति को ही प्राप्त होती हैं। बड़ी-बड़ी इच्छाओं को करने वाली प्रजा शीघ्र ही मिट्टी में मिल जाती है। श्रमकारी जन भी भूखे नंगे ही मरते देखे जाते हैं। श्रमशील वीर पुरुषों का भी भयङ्कर विनाश देखा जाता है। प्रजापति ने इस बार पुनः एक प्रजा की सर्जना करने का विचार किया। ऐसी प्रजा का जिसका पराभव न हो, दुर्गति न हो। उसके लिये प्रभु प्रजापति ने अमृत अन्न की व्यवस्था की। यह देखो महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

स आत्मन एवाग्रे स्तनयोः पय आप्याययाञ्चक्रे।[2]

उस करुणाकर प्रजापति ने अपनी इस अमर प्रजा को अपने हृदय से उद्‌भूत दोनों स्तनों के अमृतकल्प दूध से बढाया। प्रजापति भगवान् की छाती का दूध जिन्होंने पी लिया, उनके ऐश्वर्य का क्या कहना ? उनका आत्मा तृप्त हो गया, शान्त हो गया। भाइयो ! इस अमृत रस का पान करके देखो फिर क्लेश कहाँ, विनाश कहाँ, मृत्यु का भय कहाँ, सर्वत्र मोद और प्रमोद ही है। गङ्गा के तीर पर बनी घासफूस की छोटी झोंपड़ी में भी और सरयु तीर पर बने राजमहल में भी आनन्द ही आनन्द है। भाईयो ! सुनो ! उस परम माता के अमृत स्तनों का पान करो फिर देखो भाई-भाई को मार कर मानवता का नाश नहीं करेगा। पुत्र पिता को मार कर राजगद्दी पाने का दुर्भाव नहीं करेगा। प्रजापति के दोनों स्तनों का पान करो। एक स्तन का दूध तुम्हारी आत्मा में पवित्र ज्ञान की धारा बहायेगा। प्रजापति के समस्त ऐश्वर्य के उपयोग की कुञ्जी आपके हाथ लग जायेगी। फिर बादल तुम्हारे वशवर्ती होकर बरसेंगे। न कहीं बाढ़ आयेगी न सूखा पड़ेगा। नदी नालों का विनाशी जल तुम्हारा सेवक बनकर तुम्हारे खेतों में काम करेगा। सूखी मरुभूमियाँ हरे भरे उद्यानों में बदल जायेंगी। प्रजापति का महादीप तुम्हारे घरों में किङ्कर (नौकर) बनकर प्रकाश करेगा। वायु और अग्नि देवता तुम्हारा भृत्य बनकर तुम्हें आकाश बिहारी बना देंगे। देखो तो सही इस प्रजापति के स्तन का पान करके महर्षि भरद्वाज लोक लोकान्तरों में विहार कर चुके। उनके विमान लोक लोकान्तरों का दर्शन कराने में समर्थ थे। हिमालय के राजा कुबेर के पुष्पक विमान का नाम तो तुमने अवश्य ही सुना होगा। श्री राम इस विमान में लङ्का से चलकर शीघ्र ही अयोध्या पहुँच गये थे। बड़ी-बड़ी नदियाँ

---

१. ऋग्वेद ८-१०१-१४

२. मा. श. २-५-१-४

उनके रास्ते को रोक नहीं सकी। बड़ी-बड़ी विन्ध्याचल की चोटियाँ बाधक नहीं बन सकी। पर सदा स्मरण रखो, प्रजापति का केवल एक ही स्तन नहीं। उसके दूसरे स्तन का भी पान करो। इस स्तन के रसपान करने से कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का समीचीन बोध होता है। आत्मतोष की प्राप्ति इसी द्वितीय स्तन के पान से होती है। इसी स्तन का भरपूर पान ऋषि मुनि करके पर्णकुटि में भी मुदित देखे जाते हैं। इसी दूसरे स्तन्यपान के बल से अरण्यवासी तापस सन्त कन्दमूल फल-फूल मात्र के सेवन से तृप्त रहते हैं। इस प्रजापति का दूसरा स्तनरस पूर्णता का, अविनाशिता का और अमरता का प्रापक है। जिसने इस स्तन से झरने वाले अमृतरस के पान में प्रमाद किया तो बस फिर बड़े महलों के ऐश्वर्य भी अकिञ्चन हैं। अनेक प्रकार के स्वादु मीठे व्यञ्जन भी अतृप्तिकर ही हैं। एक नहीं सैकड़ों कामिनियों का भोग भी परितापी ही है। अतः प्रजापति भगवान् ने एक नहीं दो अमृतधाराओं का शुद्ध स्रोत तुम्हें प्रदान किया है। भूत विज्ञान के साथ अध्यात्म विज्ञान का अमृतरस तुम्हें प्रदान किया। इन दोनों स्तनों के पान में थोड़ा भी प्रमाद किया तो याद रखो मर जाओगे, मिट जाओगे, भूखे नंगे होकर महासन्ताप के भागी बन जाओगे। ऋग्वेद के पवित्र मन्त्रों से यथार्थ वस्तुविज्ञान का लाभ करो तो यजुर्वेद के पवित्र मन्त्र के अमृतपान से सही कर्त्तव्य का बोध प्राप्त करो। इन दोनों स्तनों का सदापायी व्यक्ति कदापि पराजय का काला मुख नहीं देखता, क्लेश की दाहक ज्वाला का तृण नहीं बनता। देखो ऋषियों ने स्पष्ट गान किया है—

न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे[1]

महर्षि याज्ञवल्क्य इस वेदवाक् का व्याख्यान करते हुये लिखते हैं—

अग्निर्वा अर्कः। तद् या इमाः प्रजाः अपराभूता ता अग्निमभितो निविष्टा।[2]

अर्थात्—सब पापभावों को जला देने वाला ज्ञानप्रकाश ही अर्क है। अर्क का अर्थ है, जिसकी विज्ञजन पूजा करते हैं, जिसको श्रद्धापूर्वक ग्रहण करते हैं। वह श्रद्धया ग्राह्य उत्तम वस्तु सचमुच वेदों का पवित्र ज्ञान है। प्रभु प्रजापति के वेदज्ञान रूप अमृतरस का पानकर्त्ता व्यक्ति सदा दोनों ओर से उस पवित्र ज्ञान के प्रकाश से संयुक्त रहता है। वह बाल्यकाल में गुरुचरणों में ज्ञान-

---

१. मा. श. २-५-१-४ में महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस ऋग्वेद ८-१०१-१४ मन्त्र का उल्लेख किया है।

२. मा. श. २-५-१-४

प्रकाश का लाभ करता है तो गृहस्थ में जाकर भी वह कदापि उसे भूलता नहीं। विद्वान् ब्राह्मण के सङ्ग से सदा अमृतरस का पान करता है। वृद्ध पितरों के चरणों में बैठकर प्रजापति के अमृत भोजन से आत्मा को तृप्त करता है। प्रजापति पिता के अमृतरस का सच्चा फल देखना है तो महाराज रघु को देखो। महाराज रघु की आत्मा सदा प्रसन्न है। उसका राजैश्वर्य अटल श्रीयुक्त है। उसकी सन्तान उत्तम और आज्ञाकारी है। यह देखो उनका सुयोग्य पुत्र युवराज अज महर्षि वशिष्ठ के चरणों में चिरकाल तक वेदमाता के अमृतरस का पान करके राजधानी में आया है। यह देश के जन-जन का प्यारा है। महाराजा रघु ने अपनी धर्मनिष्ठ जनता से कहा—भाईयो! मैंने धर्मपूर्वक राज-भार का वहन अब तक किया। मैं अब आत्मसाधना का अन्तिम उद्देश्य सिद्ध करना चाहता हूँ। जनता महाराज रघु के उत्तम गुणों से मुग्ध थी। पर उनका पुत्र अज भी गुणों में कम नहीं था। जनता ने राजसञ्चालन का भार रघुपुत्र अज के कन्धों पर रखकर सुख मनाया। पर पितृभक्त अज ने विनयपूर्वक पिताश्री के चरणों में निवेदन किया—हे पितृदेव! क्या मुझे सेवा के पुण्यलाभ से सदा के लिये वञ्चित करके आप प्रव्रज्या ग्रहण करोगे और अज के आग्रह से महाराज रघु अयोध्या के समीप के वन में ही प्रजापति परमेश्वर के अमृतरस के सतत सेवी हो गये। एक दिन आया जब महर्षि वसिष्ठ ने महाराज रघु को महाविज्ञानी जानकर संन्यास प्रदान कर दिया।[1] महाराज रघु अब कुश के आसन पर आनन्दमग्न हैं। जो परमानन्द ब्राह्मण सारे जीवन ज्ञान सेवन के उपरान्त करते हैं उसे महाराज रघु ने क्षत्रिय होकर प्राप्त कर लिया। यह देख बड़े बड़े ऋषि भी चकित हो गये।

इधर भी देखिये प्रजापति भगवान् के अमृतरस के पान करने वालों का अद्भुत चरित्र। ये हैं दशरथ पुत्र श्रीराम। इनको भी रघु का वंशज होने का गर्व है, वसिष्ठ के चरणों में बैठकर चिरकाल तक वेदमाता के स्तन्य पान का सौभाग्य है। ये चार भाई हैं। इनका भातृ प्रेम धरती के हर कोने तक फैल चुका है। चारों भाईयों के दो दो पुत्र हैं। यदि इन्होंने केवल अपनी जननी के ही दूध का पान किया होता तो राज्यलाभ की तीव्र लालसा में कोई किसी को विषपान करा देता तो कोई किसी को तलवार के घाट उतार देता। पर चार भाई और उनके आठ बेटे ज्ञानामृत के बल पर एक सूत्र में बन्धे हैं। क्या साहस कि कोई तैमूर सा हत्यारा इनके देश की ओर आंख उठा सके। विशाल भूखण्ड पर इनका धर्मराज चक्र घूमता है। देश देशान्तर के

---

१. सकिलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः। रघुवंश ८-१३

राजा इनका अनुचर होने में सौभाग्य मानते हैं। लंका में श्रीराम का भक्त विभीषण आज्ञापालक है तो दक्षिणभारत में उनके परमभक्त हनुमान् और सुग्रीव उनके धर्म राज का प्रवर्तन कर रहे हैं। भगवान् श्रीराम ने एक दिन गुरु वसिष्ठ और वृद्ध मन्त्रियों की साक्षी में अपने सभी भाइयों के पुत्रों को बराबर राज व्यवस्था का भार बांट दिया। पर इस वेद अमृतज्ञानपायी कुल में सदा ज्येष्ठों का मान है। सभी राजकुमारों ने हाथ जोड़ कर अपने ज्येष्ठ भाई कुश को सम्राट् घोषित कर दिया।[1] दशरथ पुत्र श्रीराम और उनके धर्मशील भाई पूर्ण तोष के साथ परमानन्द की पूर्ण प्राप्ति के लिये वनवासी हो गये। राजसिंहासन के लिये हुये भाई भाई के युद्धों से इतिहास के पृष्ठ के पृष्ठ भरे पड़े हैं। पर यहां उससे सर्वथा विपरीत ही दृश्य है क्योंकि इन रघुवंशियों ने शरीर को पालित करने वाला अन्न दूध ही नहीं खाया अपितु प्रजापति के परमपवित्र हृदय से प्राप्त हुये वैदिक ज्ञान का प्रचुर पान भी किया है। यही कारण है रघुवंशियों का राजैश्वर्य अमर हो गया। चिर-स्थायी बन गया। कोई शत्रु उनकी ओर मुख तक नहीं उठा सका। इनकी प्रजा धन धान्य से युक्त है। अन्याय अत्याचार का कहीं नाम नहीं फिर जन आक्रोश की आशङ्का कहाँ? विद्रोह का सन्देह कैसे? कोई रोगपीड़ित नहीं कोई परपीड़ित नहीं। क्योंकि यहाँ—

या इमाः प्रजा अपराभूताः, ता अग्निमभितो निविष्टाः।[2]

यह जो प्रजा सदा विजयी है। सदा ऐश्वर्य सुख युक्त है। सदा नीरोग और स्वस्थ है। ईर्ष्याद्वेष के दाही भाव से सदा विमुक्त है। वह निश्चित रूप से इधर और उधर दोनों ओर से ज्ञानाग्नि की सेवी है। वह निश्चयेन प्रजापति के अमर और अक्लेश जीवनदायी दोनों स्तनों के रस का ही पान करने वाली है।

ओ! गृहस्वामियो! यदि तुम चाहते हो तुम्हारी सन्तान स्नेहसूत्र में बन्धी रहे, यदि तुम कामना करते हो कि हमारा कुलदीप सदा जगमगाता रहे, यदि तुम इच्छा करते हो हमारा ऐश्वर्य का सूर्य सदा चमचमाता रहे, यदि तुम्हारी सदा नीरोग मुदित रहने की आकांक्षा है तो सदा याद रखो यह तब ही होगा जब तुम्हारे घरों में प्रजापति के दोनों स्तनों के रस का पान होता

---

१. अथेतरे सप्तरघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुरोजन्मतया गुणैश्च
चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि। —रघुवंश ८-१३

२. मा. श. २-५-१-४

रहेगा। सदा स्मरण रखो यदि बाल्यकाल में तुम्हारी सन्तान ने गुरुचरणों में बैठ कर सच्चे ज्ञान के द्वारा आत्मा का आप्यायन (संवर्धन) कर लिया और गृहस्थ बन कर भी विद्वानों के मुख से पवित्र ज्ञान का ग्रहण करते रही तो सुनो—तुम्हारे कुल का पराभव नहीं होगा पुनः सुनो—नहीं होगा।

ओ देशवासियो ! सुनो ! ऋषियों के सदा कल्याण हेतु वचन सुनो—यदि तुम चाहते हो तुम्हारी स्वाधीनता सदा अचल रहे, शत्रु तुम्हें न उजाड़े, डाकू लुटेरे दस्यु तुम्हें पीडित न करें, अतिवृष्टि और अनावृष्टि तुम्हें बरबाद न करे, सर्दी गर्मी तुम्हें क्लेषित न करे, घी, दूध, फल, अन्न का अभाव तुम्हें न सताये, कामी लम्पट नीच जन तुम्हारी बहू-बेटियों पर अत्याचार न करें, तुम्हारे शासक स्तेन (चोर) और पीड़क न हो तो याद रखो इसके लिये तुम्हें प्रजापति भगवान् के वेदज्ञानरूपी अमृतरस का पान करना ही पड़ेगा। यदि देशवासियों ने इस सच्चे जीवनदायी अमृतपान की उपेक्षा की, प्रथम वय में इस स्तन्यपान के करने में प्रमाद किया, और आगे के जीवन में भी वेदवाक्यों का श्रवण और मनन करने में आलस्य किया तो निश्चयेन जानो तुम्हारा यह धनवैभव शीघ्र लूट लिया जायेगा। तुम्हारे सुन्दर सुखदायी भवन् बलात् छीन लिये जायेंगे। इस लिये प्रजापति के दोनों स्तनों के पान में कदापि प्रमाद न करो। यदि तुमने एक दिन भी प्रमादवश इस जीवनवर्षी अमृत का पान नहीं किया तो जैसे आहार के बिना शरीर क्षीण हो जाता है वैसे ही तुम्हारा आत्मा दुर्बल हो जायेगा और काम क्रोध ईर्ष्या द्वेष रूपी शत्रु उस पर तुरन्त आक्रमण करके तुम्हारे ऐश्वर्य की जड़ काट डालेंगे। इसलिये प्रभु के अपार ऐश्वर्य में भागीदार रहना चाहते हो तो उसके ज्ञानरस का भी पान करो। यही रहस्य है सदा ऐश्वर्य लाभ का। यही कारण है सदा ऐश्वर्यवान् रहने का।

इत्योम्

सप्तदशः पर्थः

शक्तिशाली वरुणदेवता के बन्धनों से मुक्त कैसे हों ?

हजारों वर्ष पहले की बात है। ऋषि पुत्र गालव ने महर्षि याज्ञवल्क्य की विद्या कीर्ति सुनी। वे यजुर्वेद के सूक्ष्म तथा कल्याणकारी विज्ञान के लाभ के लिये उनके चरणों में उपस्थित हुये। श्रद्धापूर्वक गालव ने यजुर्वेद का सम्पूर्ण विज्ञान प्राप्त किया। वेद के उस पवित्र ज्ञान को पाकर गालव घर जाने लगे तो महर्षि याज्ञवल्क्य ने आदेश दिया—हे गालव ! जाओ और मेरी जन्मभूमि गुजरात में वेदज्ञान की प्रतिष्ठा करो। गालव ने अपने महाविज्ञानी गुरु का आदेश पाला और आर्यावर्त के पश्चिमसमुद्र के देश में अपना नूतन विद्याकुल स्थापित किया। समीप और दूर के अनेक मेधावी छात्र गालव के कुल में नाना विद्याओं का अध्ययन करके अन्त में यजुर्वेद का पाठ पढते। आचार्य गालव अपने गुरु महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा प्रोक्त शतपथ ब्राह्मण के गूढ रहस्यों का प्रकाशन करते थे। एक दिन उन्होंने मित्र देवता का रहस्य प्रकट किया तो आज वरुण देवता और उसके पाशों (बन्धनों) से मुक्त होने का रहस्य प्रकट करना शुरू किया।

महान् आचार्य ने अपने शिष्यों को सम्बोधित करते हुये कहा—प्रबुद्ध शिष्यो ! धरती पर नाना प्रकार के मनुष्य हैं। जैसे प्रत्येक व्यक्ति की आकृति भिन्न है वैसे ही आन्तरिक गुणों की भी समता नहीं। एक व्यक्ति थोड़े उपदेश से सन्मार्ग का राही हो जाता है तो दूसरा बहुत उपदेश से। इतना ही नहीं तीसरा ऐसा भी आदमी है जिस पर लम्बे उपदेश भी कृतकारी नहीं देखे जाते। एक व्यक्ति दण्ड के भय से सन्मार्गी है तो दूसरा अपमान के भय से ही कुपथ से बच जाता है। तीसरे प्रकार के ऐसे भी व्यक्ति हैं जो दण्ड पाकर अपमानित होकर ही पाप कर्म से उपरत होते हैं। इतना ही नहीं, कुछ खरनर ऐसे भी हैं जो दण्ड और अपमान का विषघूट पीकर भी कुपथ का त्याग नहीं कर पाते। उनके लिए फिर रुद्र देव का प्राणघाती बाण ही बचता है।

एक प्रबुद्ध शिष्य ने विनयपूर्वक पूछा—हे आचार्यपाद ! एक समान आंख, कान और हाथ पैरों वाले मनुष्यों में यह ऊंच-नीच का भेद क्यों है ?

आचार्य गालव ने उत्तर दिया—हे विनयी शिष्यो ! आत्मा एक दर्पण के समान है, जैसे रूपग्राही दर्पण यदि सर्वथा मैला है तो फिर वह रूप का ग्रहण नहीं करता। यदि दर्पण कुछ मलिन है तो वह थोड़े रूप का ग्राही हो सकेगा। यदि दर्पण सर्वथा स्वच्छ है तो उसमें रूप का प्रकटन पूर्णरूपेण होता है। शुद्ध स्वच्छ दर्पण भी यदि अस्थिर है चलायमान है तो भी वह रूप का समीचीन (ठीक) ग्राही नहीं हो पाता। ऐसे ही शुद्ध एवं शान्त आत्मा में ही गुरुओं का कल्याणकारी उपदेश प्रभावी होता है।

एक विनयशील शिष्य ने पुनः प्रश्न किया—हे आचार्य देव ! शुद्ध पवित्र आत्मा पर मल का आवरण कैसे आ जाता है ? आचार्य गालव ने कहा—सुनो ! आचार्यपाद महर्षि याज्ञवल्क्य ने वरुणप्रघास नामक यज्ञ का व्याख्यान करते हुये लिखा है—

ता अस्य प्रजाः सृष्टा वरुणस्य यवान् जक्षुः ।[1]

अर्थात्—जब परमपिता परमेश्वर ने इच्छा शक्ति, कर्मशक्ति, और परित्राण (Protection) तथा ज्ञानशक्ति से युक्त इस मानवी प्रजा की सर्जना की तो इन सब शक्तियों के बल पर मानव प्रजा का ऐश्वर्य सब प्राणियों से अधिक हो गया। धीरे धीरे मानवी प्रजा ने प्रभु के ऐश्वर्य पर पर्याप्त अधिकार जमा लिया। उस ऐश्वर्य का भोग मानवी प्रजा ने किया और भोग के आस्वाद ने मानव को फसाना शुरू कर दिया। भोग के सुख में फसते ही ज्ञान शक्ति मन्द पड़ने लगी। आत्मा बस उसी समय से मल के आवरण से घिरती गई। एक दिन ज्ञानशक्ति क्षीण हो गई और आत्मा पर भोगसुख की आसक्ति ने अधिकार कर लिया। प्रजापति भगवान् ने अपनी प्रजा को देखा कि मेरी प्रजा भोगासक्त होकर विनाश की राह पर चल पड़ी है। प्यारे प्रभु ने पूर्ण विनाश से बचाने के लिये वरुण रूप होकर मानवी प्रजा को नाना बन्धनों में बांध दिया। वरुण देवता की ही प्रेरणा से मानवी प्रजा का एक राजा बनाया गया। राजा ने वरुणदेव का आज्ञापालक होकर प्रजा को विनाशी भोग से बल पूर्वक रोक दिया। उनके स्वच्छन्द विहारी मन को दण्डभय से बांध दिया। इधर वरुण देव की प्रेरणा से मानवी प्रजा ने मिलकर नाना धर्ममर्यादाओं की प्रतिष्ठा की। धर्म मर्यादाओं को भङ्ग करने वालों का अपमान किया तो मर्यादापालकों का सम्मान। अपमान भय और सम्मानलाभ के लिये लोग धर्म-त्याग से डरने लगे। राजा और समाज के भय से छिपकर दुष्कर्मकर्त्ताओं को

---

१. मा. श. २-५-२-१

भी सर्वव्यापी वरुण ने छोड़ा नहीं। जिन्होंने भी धर्ममर्यादा को तोड़ा प्रभु के ऐश्वर्य का अनावश्यक भोगास्वाद लिया उन्हें परमशक्तिशाली वरुणदेव ने अपने न टूटने वाले बन्धनों से जकड़ दिया। लौकिक राजा के बन्धनागार से भाग निकलना सम्भव है। राजपुरुषों को उत्कोच (रिश्वत) देकर दण्डमुक्त हो जाना भी सम्भव है। बुद्धिचातुर्य से समाज की आंखों पर पर्दा भी डाला जा सकता है पर सदा याद रखो सम्पूर्ण ऐश्वर्य के अधिपति शक्तिशाली वरुण के बन्धन से निकल भागना कथमपि सम्भव नहीं। वहां बड़ी से बड़ी रिश्वत का प्रभाव काम नहीं करेगा। उसकी सर्वदर्शी आंखों से अति चतुर चालाक भी बच नहीं सकता। देखो स्वयं प्रभु घोषणा पूर्वक कहते हैं—

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तात् न समुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिवः स्पशः प्रचरन्तीदस्य सहस्राक्षा अतिपश्यन्ति भूमिम् ॥[1]

अर्थात्—चाहे कोई द्युलोक के प्रकाश से परे जा छिपे पर उस वरुण राजा से बच नहीं सकता। चाहे कोई धरती के नीचे गहरी गुहा बना कर पाप करे वरुण राजा उसे वहीं जकड़ लेगा। घोर अन्धेरे में भी, आकाश और पाताल में भी उस शक्तिशाली वरुण राजा की असंख्य आंखें सदा दर्शक हैं। उसकी शक्ति सूर्य से भी ऊपर और धरती के भी नीचे सर्वदर्शी है। उसकी दिव्यदृष्टि से बचने का विचार सर्वथा मिथ्या है, विनाशी और बन्धनकारी है।

देखो एक समय की वार्ता है। एक श्रेष्ठी ने राजा और प्रजा को धोखा देखकर बहुत सारे धनैश्वर्य का संग्रह कर लिया। श्रेष्ठी अपने को अति-बुद्धिमात् और चतुर मानता था। राजपुरुषों को नाना भेंटें देकर वह राज करों से बच जाता। भोली भाली जनता को अपने विश्वास जाल में फसाने के लिये वह नाना विध पूजापाठ और यज्ञानुष्ठानों का आडम्बर कर देता। लोग उसे अतिधर्मवत्सल मानते तो वह उन्हें लूट कर अपने को कृतकृत्य मानता। पर श्रेष्ठी को पता नहीं, राजाओं का राजा अतिदर्शी वरुण देव उसे देख ही नहीं रहा अपितु अपने अटूट बन्धन में भी उसे अन्दर ही अन्दर बांधता जा रहा है। जैसे जैसे श्रेष्ठी ने धर्मविरुद्ध ऐश्वर्य का भोग किया वैसे वैसे वरुण देव ने भी अपनी पाश कड़े कर दिये। सेठ जी की चातुरी और वञ्चकता जैसे अति रहस्यपूर्ण ढंग से थी, वरुण की शक्ति भी रहस्यमय ढंग से उसे जकड़ने में लगी थी। नासमझ लोग सेठ जी को अतिभाग्यवान् और सुखी मानते थे पर सूक्ष्मदर्शी विज्ञानी पुरुषों ने कहा यह सुखभोग महाविनाशकारी सिद्ध

१. अथर्ववेद ४-४-१६

होगा। कोमलाङ्ग सेविकाओं का पादसंवाहन (पैर दबाना) अति सुखकारक था। नाना विध मिष्टान्नों का आस्वाद जिह्वातर्पक था। कोमल गद्दी पर सोना प्रत्यक्षतः सुखकारी था। पर भूखे नंगे कुटीवासी देशभाईओं का धन हड़पकर यह पापपूर्ण सुखभोग वरुण की दिव्यदृष्टि से बचा हुआ नहीं था। वरुण देव ने अपना पाश कसा और सेठ जी के हाथ पैर शिथिल हो गये। पैर के घाव सड़ने लगे। धन के बल पर बड़े बड़े चिकित्सकों से सेठ जी ने चिकित्सा कराई, परन्तु सिद्ध वैद्यराज भी हार गये। बहुमूल्य ओषधियां निष्प्रभावी हो गईं। महाशक्तिशाली वरुण के सामने ओषधियों का बल फीका पड़ गया। उच्चकोटि के चिकित्सक भी सेठ जी ने बुलाए, उन्होंने सूक्ष्म परीक्षा करके बताया कि सेठ जी को मधुमेह (Diabeties) हो गया है। वैद्यों ने चेतावनी दे दी मिष्टान्न खाना बन्द करो अन्यथा मौत के द्वार पर बैठे हो। सेठजी घबरा गये। प्राण सूख गये। हाय ! फीका दूध कैसे पीऊं। तस्करवृत्ति सेठ ने वैद्यों को भी धोखा देकर मीठा खा लिया। वरुण देव ने अपना पाश और कस दिया और सेठ का पैर भी वैद्यों ने काट दिया। वरुण की शक्ति से पापी सेठ के दुष्कर्म सर्वजन दृश्य हो गये। इसलिये वेद ने कहा है—

न स मुच्याँतै वरुणस्य राज्ञः ।[1]

पापी कभी वरुण से बच नहीं सकता। वह अविलम्ब अपने पाश फैला देता है। ऋषिराज याज्ञवल्क्य ने भी लिखा है—

ता वरुणो जग्राह ।[2]

अर्थात् परमेश्वर पिता के ऐश्वर्य का अधर्मत भोग करने वाली प्रजा को वरुण ने जकड़ लिया। वरुण देव ने अपनी शक्ति से कहीं आंख छीन ली तो कहीं कान, कहीं पैर गला दिये तो कहीं हाथ काट दिये। वरुण राजा के बन्धन में पड़ी प्रजा की शक्तियाँ क्षीण हो गईं। उसने नाना बन्धनों में पड़कर सुखी जीवन से हाथ धो लिये। सारे देवता उसे छोड़ चले गये। शरीर में मात्र प्राण और घरों में ऐश्वर्य पड़ा रह गया। आचार्यपाद याज्ञवल्क्य ने लिखा है—

ता वरुणगृहीताः परिदीर्णा अनत्यश्च प्राणत्यश्च शिश्यिरे चे निषेदुश्च ।[3]

---

१. अथर्ववेद
२. मा. श. २-५-२-२
३. मा. श. २-५-२-२

अर्थात्—वरुण के अभेद्य जाल में पड़ी प्रजा की सब मधुर आशाएँ धूल में मिल गईं। बहुत हाथ पैर मारने पर भी कुछ उपाय उन्हें सूझ नहीं पाया। एक दु:ख से दूसरे महादु:ख का ही लाभ होता गया। बड़ी बड़ी सभाओं को जीत लेने वाला ज्ञान जरूर था। पर वह क्लेशनिवारण में कुछ भी कृतकारी नहीं हो रहा था। धन धान्य और नाना सुख साधनों की भी कोई कमी नहीं पर क्लेशबन्धो के काटने की शक्ति उनमें नहीं रही। आत्मा में से सुरसवाही सोम देवता किनारा कर गया। भोगवासनाओं पर वाण प्रहार करने वाला रुद्र देव उसकी आत्मा को छोड़ चला। वह रोज विचार करता कि प्रात:काल शीघ्र उठकर दूर जंगल में घूमने जाऊंगा, वहाँ व्यायाम करूंगा। पर प्रात:काल आया तो आलस्य रिपु ने आत्मा को घेर लिया। यदि आत्मा में प्रचण्ड रुद्रदेव का निवास होता तो आलस्य शत्रु पलभर में भाग जाता। इतना ही नहीं देवशक्तियों से शून्य आत्मा के देहरथ को रोगों ने तोड़ डाला, जीर्ण शीर्ण बना दिया। बच गये प्राण और उदान केवल।

प्राण और उदान धारी प्रजा जीवित अवश्य है पर यह जीवन किस काम का ? कहीं रोग का भय है तो कहीं राजपुरुषों का। कहीं समाज का भय है कहीं बन्धु बान्धवों का। बहुविध भय से पीडित यह प्रजा म्लान है। आत्मा भोगों के लिये लालायित होकर छटपटा रही है। पाप वासनाएँ अन्दर ही अन्दर जलाये जा रही हैं।

लोग सोचते हैं, सब कुछ होने पर भी हमारा मन अशान्त क्यों है ? पहले हम सोचते थे, हम भूख के कारण पीड़ित और क्षीण हो रहे हैं। सर्दी और गर्मी हमें दु:खी करते हैं। पर अब तो अन्न धन की कोई कमी नहीं। हमारे सुन्दर घरों में सर्दी और गर्मी का कोई प्रभाव नहीं रहा। अनेक प्रकार के सर्दी और गर्मी से त्राण देने वाले वस्त्र भी हमारे पास हैं। यान हैं, विमान हैं। पर ज्यों ज्यों हम सुविधाभोगी हुए त्यों त्यों दु:ख बढ़ते ही गये। ज्यों-ज्यों सुख सामग्री का सेवन किया त्यों-त्यों वरुण के क्लेशदायी बन्धनों का विस्तार होता गया। वरुण के इन कष्टदायी बन्धनों से मुक्ति कैसे मिले ? सदा एक रस सुखस्थिति का लाभ कैसे हो ?

आचार्य महर्षि गालव के शिष्य भी विचारों में डूब गये। एक ने कहा—हे आचार्य देव ! सचमुच यह एक दु:साध्य समस्या है। यह एक यक्ष प्रश्न है कि ऐश्वर्यसेवी भी जब अशान्त हो जाये तो उसे क्या देकर शान्त किया जाये ? भूखे को रोटी देकर, सर्दी से ठिठुरते को कम्बल देकर, वर्षा से पीड़ित को घर में बैठा कर सुखी किया जा सकता है, पर इन सब

के होने पर भी क्लेश युक्त है। वासना पीड़ित है। कदापि शांत न होने वाली भोगक्षुधा से दुःखी है। ईर्ष्या द्वेष की अतिदाही ज्वाला से जल रहा है। उस व्यक्ति का त्राण कैसे हो ? यह हमारी समझ में नहीं आता।

आचार्य गालव बोले—विनयशील शिष्यो ! ऋषियों ने वेदों से उस सूक्ष्मविज्ञान को प्राप्त किया है, जिससे सब समस्याओं का समाधान सम्भव है। कोई ऐसा यक्ष प्रश्न नहीं जिसका उत्तर ऋषियों ने न दिया हो। देखो आचार्यपाद महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा है—

ता एतेन हविषा प्रजापतिरभिषज्यत् ।[1]

दयालु परमेश्वर ने पापवासना के क्लेशदायी बन्धन से क्षीण और दुःखी प्रजा की चिकित्सा इस वरुण प्रघास यज्ञ की हवि के द्वारा करने का उपदेश दिया।

एक मेधावी शिष्य ने विनयपूर्वक पूछा—आचार्य देव ! वह वरुण-प्रघास यज्ञ क्या है, जिसकी हवि से भोगसक्त दुःखी प्राणी क्लेशमुक्त हो जाता है। आचार्य गालव बोले—शिष्य गण ! मनुष्य प्रथम आचार्य कुल में नाना विद्या का लाभ करता है। वह बुद्धि और शरीर के बल का पूर्ण लाभ करता है। पुनः वह गृहस्थाश्रम रूपी विशाल अन्तरिक्ष में प्रवेश करता है। अपने ज्ञान और बल के द्वारा मनुष्य बहुविध ऐश्वर्य का स्वामी हो जाता है। विद्या और बल से युक्त जन अपने ऐश्वर्य की रक्षा का उपाय भी कर लेते हैं। पर ज्योंही ये जन ऐश्वर्य का भोग करते हैं तो बुद्धिमान् व्यक्ति भी ऐश्वर्य भोग सुख में आसक्तिमान् हो जाता है। आसक्तिमान् हुआ व्यक्ति अधिक सुख भोग के लिए उत्कण्ठित हो जाता है। ज्यो ज्यों आसक्ति बढ़ती है त्यों त्यों व्यक्ति धर्म को भूलकर पापकर्म में प्रवृत्त होने लगता है तो सर्व ऐश्वर्य का अधिपति वरुण देव उसे अपने बन्धन में बांधना शुरू कर देता है। पुनः ऐश्वर्यभोगी व्यक्ति सब कुछ होते हुए भी क्लेशित हो जाता है। प्रघास का अर्थ भोग करना है। वरुण के ऐश्वर्य का भोग करना वरुणप्रघास कहलाता है। व्यक्ति केवल परहित के लिए मात्र कर्म करने की शक्ति लाभ के लिए वरुणदेव के ऐश्वर्य का उपयोग करे। इन्द्रिय सुखों में आसक्त हुए बिना ऐश्वर्य सेवी बना रहे। इसके लिए वरुणप्रघास यज्ञ करने की आवश्कता है। वर्ष में एक बार पूर्ण श्रद्धा भक्ति के साथ उस वरुणप्रघास यज्ञ का अनुष्ठान प्रत्येक ऐश्वर्यधारी गृहस्थ को करना चाहिये, जिससे आत्मा में

---

१. मा. श. २-५-२-३ ।

वेद के पवित्रभाव का प्रकाश प्रकट हो और उस प्रकाश के सहारे सारे वर्ष भर निरासक्त होकर वरुण के ऐश्वर्य का आवश्यकतानुसार सेवन करता रहे। तभी जानो वरुणप्रघास यज्ञ पूरा हुआ। इस यज्ञ की दो वेदिकाएं होती हैं। जिनमें गृहस्थ यजमान अग्नि का उद्दीपन करता है। एक वेदि उत्तर की ओर तथा दूसरी उसके दक्षिण की ओर होती है।[1] उत्तर वेदि आगे बढ़ने की, उन्नति करने की ज्ञानाग्नि से दीप्त है तो दक्षिण की वेदि की अग्नि प्राप्त हुए ऐश्वर्य का समीचीन (ठीक) उपयोग की बोधिका है। जिस व्यक्ति की सभी ऐश्वर्य लाभ की चेष्टाएं और इच्छाएं सदा यज्ञीय भावों से ओत-प्रोत है, जिस व्यक्ति के ऐश्वर्य के कण-कण के भोग में यज्ञीय अग्नि का प्रकाश है तो ऋषि कहते हैं—

उभयत एवैतद् वरुणपाशात् प्रमुञ्चंति।[2]

अर्थात्—वह व्यक्ति न तो भोग में आसक्त होकर वरुण के बन्धन में पड़ता और न ही अधर्मपूर्वक ऐश्वर्य का संग्रह करके वरुण देव के बन्धनागार में फंसता है। वह निश्चयेन दोनों ओर के वरुणपाशों से निर्मुक्त होकर कृत-कृत्य हो जाता है सदा आनन्दी हो जाता है। उत्तर की वेदि वरुण की वेदि है। उसमें सदा अग्नि का प्रकाश यदि उद्दीप्त रहा तो व्यक्ति सदा देख पायेगा कि जिस ऐश्वर्य का लाभ करने तू चला है। वह मात्र उस वरुण देव का है जो स्वयं ऐश्वर्य के भोग जाल में न फंस कर प्राणी मात्र के हित का महान् कार्य सिद्ध करता है। इसलिए प्रभु के इस ऐश्वर्य का भागी होकर मैं भोग जाल में नहीं फंसूगा अपितु उसके प्रत्येक भाग को यज्ञार्थ, भूतहितार्थ प्रयोग करूंगा।[2] दक्षिण की वेदि मरुतों की बेदि ऋषियों ने कथित की है। मरुत् नाम प्रजा का है।[3] प्रजा की आत्मस्थ वेदि में सदा ज्ञानरूप अग्नि का प्रकाश दीप्त रहना चाहिए कि हम ऐश्वर्य का भोग करेंगे तो यज्ञार्थ करेंगे यदि हमने इन्द्रियसुख भोग के लिए ऐश्वर्य का उपयोग किया तो हमारा स्वामी, हमारा राजा वरुण देव है। वह हमें सदा देख रहा है। उसकी आँखों से हमारा छोटा भी पापपूर्ण भोग छिपा नहीं है। इस प्रकार दोनों अग्नि के उद्दीपन से व्यक्ति भोगभाव के अधीन होकर वरुण देव के बन्धन में नहीं पड़ता।

देखो ! अति प्राचीनकाल की वार्ता है। कुरुक्षेत्र में एक मुद्गल नाम के मुनि अपनी धर्मपत्नी और पुत्र के साथ निवास करते थे। वे अति ज्ञानी

१. द्र. मा. श. २-५-२-५
२. मा. श. २-५-२-५
३. विशो मरुतः मा. श. २-५-२-६

और धर्मात्मा थे। वे दोनों सन्ध्याओं में अग्निहोत्र और ब्रह्मयज्ञ का श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करते थे। अमावास्या और पूर्णिमा को विशेष यज्ञ भी मनोयोग से करते थे। वरुणदेव के बन्धनमोक्ष के लिए मुद्‌गल प्रतिवर्ष वरुणप्रघासयज्ञ का अनुष्ठान भी भावनापूर्वक करते थे। उनकी आत्मा में सदा ज्ञानाग्नि का प्रकाश बना रहता था। वे सदा कर्मनिष्ठ और तपोऽनुष्ठान में लगे रहते थे। कपोत (कबूतर) की भाँति किसानों के खेतों में पड़े रह गये दानों को बीन उञ्छ-वृत्ति से जीवन निर्वाह करते थे। वे सदा पहले अतिथि को तृप्त करके ही बचे हुए भोजन का सेवन करते थे। ज्ञान के शुभ्र प्रकाश से उनकी भोगवासनाओं का जाल कट गया था। भोगासक्ति से मुद्‌गल ऋषि सर्वथा ऊपर उठ गये थे। उनके विमल हुए मन में न ईर्ष्याभाव था न किसी के प्रतिशत्रु भाव। मुद्‌गलमुनि का मानससर सदा अक्षोभ और शीतल बना रहता था। उनका यश धीरे धीरे दूर तक फैल गया। दिगम्बर वेषधारी दुर्वासा ऋषि ने जब मुद्‌गलमुनि की कीर्ति सुनी तो उन्हें उनके दर्शन करने की उत्सुकता हो गई। एक दिन दुर्वासा ऋषि मुद्‌गल के आश्रम की ओर चल दिये। दुर्वासा ऋषि ने मुद्‌गल मुनि की परीक्षा लेने की ठान ली और उन्मत्तों का सा वेष बनाकर आश्रम में पहुँचे। मुद्‌गल मुनि ने श्रद्धापूर्वक दुर्वासा ऋषि का अभिवादन किया और बैठने के लिए उत्तम आसन प्रदान किया। दुर्वासा ऋषि ने आशीर्वाद के स्थान पर अनेक कटु वचनों की वर्षा कर दी। वे बोले—हे मुद्‌गल! मैं तो भूखा हूँ। तुम्हारे अभिवादन और आसन से मेरा पेट नहीं भर सकता। अतिथिसेवी व्रती मुद्‌गल मुनि ने उत्तमरीति से सिद्ध किया भोजन उन्मत्त वेषधारी दुर्वासा के लिए अर्पित किया। दुर्वासा ने शीघ्र उस भोजन को खा लिया और आवेशपूर्वक कहा--हे मुद्‌गल! क्या तुम मुझे भूखा ही वापिस भेज दोगे। मुद्‌गल ऋषि ने शेष भोजन भी श्रद्धा पूर्वक दुर्वासा ऋषि की थाली में परोस दिया। दुर्वासा न उसमें से थोड़ा खाकर शेष को इधर-उधर बिखेर दिया। मुद्‌गल ऋषि कुम्भीधान्यव्रती थे। उन्होंने बिना किसी विकार के परिवार सहित पानी पीकर ही वह दिन व्यतीत किया। दुर्वासा ऋषि कुछ दिन पश्चात् पुनः मुद्‌गल मुनि के आश्रम में आये और उसी प्रकार कठोर परीक्षा ली। दुर्वासा ने दो ही बार नहीं तीसरी, चौथी, पांचवीं और छठी बार भी मुद्‌गल मुनि की परीक्षा ली पर दुर्वासा ऋषि ने देखा ज्ञानाग्नि के सदा सेवी ब्रह्मर्षि मुद्‌गल को लेशमात्र भी खिन्नता न हुई। उनका धैर्य हिमालय के समान अटल ही बना रहा। महर्षि दुर्वासा मुनिराज मुद्‌गल की निर्विकारता और अखेदता को देखकर अति मुदित हुए और बोले—

त्वत्समो नास्ति लोकेऽस्मिन् दाता मात्सर्यवर्जितः ।[1]

हे मुद्‌गल तेरे समान ईर्ष्या द्वेष से रहित और यज्ञकर्ता दाता मैंने इस लोक में कहीं नहीं देखा । दुर्वासा के मुख से पुनः यह वचन निकला—

आहारप्रभवाः प्राणा मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं निश्चितं तपः ॥[2]

हे मुद्‌गल ! प्राणों की स्थिति भोजन के अधीन है । मन अति चञ्चल और कठिनता से वश में किये जाना वाला है । सचमुच मन और इन्द्रियों को वश में कर लेना महान् तप है ।

दुर्वासा ऋषि ने पुनः आगे कहा—हे मुद्‌गल मुनि ! तुमने मन को वश में कर लिया । इन्द्रियों को जीत लिया । ज्ञानाग्नि के सततोद्दीपन से तुम्हारे मल दूर हो गये । भोग की वासना ज्ञानाग्नि से तुमने जला डाली । हे मुद्‌गल ऐसे कल्याणमार्गी मुनि को मैं सदा नमन करता हूं ।

आत्मजित मुद्‌गल की कीर्तिपताका देश देशान्तरों में फैल गई । राजा महाराज तक उनकी चरणरज माथे पर लगाने लगे । मुद्‌गल मुनि के आश्रम का ऐश्वर्य दिनों दिन बढ़ने लगा पर मुद्‌गल ऋषि सदा ऐश्वर्यभोग से कमलपत्र के समान निर्लिप्त रहे । राजा महाराजा धनी श्रेष्ठियों द्वारा दिये धन से सैंकड़ों बालक आश्रम में विद्यालाभ करके कृतकृत्य हो गये । विपुल ऐश्वर्य के स्वामी मुद्‌गल से एक दिन भोगवासनाओं ने पुकार की—हे मुद्‌गल ! इस अपार ऐश्वर्य का कुछ तो आस्वाद लो कुछ तो सुख लाभ करो । पर सच्चे वरुणप्रघासी मुद्‌गल की आत्मा के ज्ञानप्रकाश ने स्पष्ट कर दिया कि यदि थोड़ा भी भोग-वासनाओं का कहा सुना तो एक दिन पतन निश्चित है । थोड़ा भी ऐश्वर्य-भोग में लिप्त हुआ तो शक्तिशाली वरुण अपने प्रबल पाश बान्धने के लिये फेंक देगा और सततवाही अशान्ति का स्रोत वह चलेगा । सुख के पीछे पड़ते ही मनुष्य की चेतना लुप्त होने लगती है । रजोगुण का आक्रमण बुद्धि को मलिन कर देता है । तब शक्तियाँ क्षीण होकर वज्रदेह भी जीर्ण होने लगता है । वरुण देवता का भेजा यमराज द्वार पर आ बैठता है और सुखासक्त मन रो उठता है । मुद्‌गल मुनि के इन विचारों ने उनका सदात्राण किया । एक दिन आया और महामुनि मुद्गल ने अपने समस्त शिष्यों और भक्तों को घोषणा पूर्वक कहा—

---

१. महाभारत वनपर्व २६०-२३
२. महाभारत वनपर्व २६०-२३

यत्र गत्वा न शोचन्ति न व्यथन्ति चलन्ति वा।
तदहं स्थानमत्यन्तं मार्गयिष्यामि केवलम्।[१]

अर्थात्—जिस ब्रह्मलोक को प्राप्त करके ऋषिजन शोक व्यथा और विचलता को प्राप्त नहीं होते, मैं केवल उसी अक्षय धाम का अनुसन्धान करूंगा। इतना कहकर ऋषि मुद्गल ने प्रव्रज्या (संन्यास) ले ली। निन्दा और स्तुति उनके लिये एक समान हो गई। उनकी दृष्टि में मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण का भेद समाप्त हो गया। विशुद्ध ज्ञान में विहार करते हुये अन्त में महर्षि मुद्‌ल ने मोक्षधाम का लाभ कर लिया।

इसलिये तत्त्वदर्शी ऋषियों ने कहा है कि—हे ऐश्वर्य के स्वामी गृहस्थजनो! प्रतिवर्ष वरुणप्रघास यज्ञ का अनुष्ठान करके यह भाव पक्का कर लो कि इस ऐश्वर्य का सच्चा स्वामी परमदेव परमेश्वर है। अपने स्वार्थ के लिये यदि तुमने इस ऐश्वर्य का भोग किया तो शक्तिशाली वरुण के पाशबन्धन में बन्ध जाओगे। इसलिये आत्मस्थ वरुणप्रघास की दोनों वेदियों की अग्नि में पांच आहुतियाँ डालकर उन्हें इतनी दीप्त बना दो कि भोगभावरूप असुर का प्रवेश आत्मा में न हो सके।

एक प्रबुद्ध शिष्य ने पूछा—हे आचार्य देव! वरुणप्रधास की बन्धन निवारक पांच हवियाँ कौन-सी हैं और किन-किन देवताओं को दी जाती हैं?

आचार्य गालव ने कहा—देखो! महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है सबसे पहली हवि इन्द्र को और दूसरी हवि अग्नि को दो। प्राण ही इन्द्र है और उदान ही अग्नि है। जैसे स्थूल प्राण और उदान वायु शरीर को जीवन देते हैं ठीक वैसे ही सूक्ष्म प्राण और उदान रूप इन्द्र और अग्नि आत्मा को सच्चा ऐश्वर्य प्रदान करते हैं। अग्नि ज्ञानप्रकाश से आत्मा को राह दिखाता है तो इन्द्र आत्मा को परमेश्वर के ऐश्वर्य का भागीदार बना देता है। इन दोनों देवों को अति श्रेष्ठ पुरोडाश की हवि देने का विधान आचार्यपाद महर्षि याज्ञवल्क्य ने किया है।

एक शिष्य ने विनयपूर्वक पूछा—हे आचार्यवर्य! चावल अथवा जौ के थोड़े से आटे से बने पुरोडाश को अग्नि में डालने से आत्मस्थ इन्द्र और अग्नि नामक सूक्ष्म प्राण उद्दीपन कैसे हो सकते हैं? आचार्य गालव ने उत्तर दिया—हे शिष्यमण्डल! आत्मा के इन्द्र तथा अग्नि नामक देवशक्तियों को दिया जाने वाला असली पुरोडाश तो मस्तिष्क है।[२] यह बाह्य यवचूर्ण से

१. महाभारत वनपर्व १६१-४४
२. मास्तिष्क एव पिण्टानि! —मा. श. १-२-१-२

बनाया जाने वाला पुरोडाश तो उसकी प्रबोधिका अनुकृति है। इस यव अथवा तण्डुल (चावलों) के चूर्ण से बने पुरोडाश की भौतिक अग्नि में होम करने से भौतिक इन्द्र तथा अग्नि अवश्य पुष्ट होते हैं पर आत्मस्थ इन्द्र और अग्नि तो मस्तिष्क के अर्पण से ही जीवन्त होते हैं। मस्तिष्क भी तीन प्रकार का है। एक जो अन्न जल हम खाते पीते हैं इसका सार भाग प्राणों की सहायता से ऊपर उठता है और हमारा स्थूल मस्तिष्क निर्मित होता है। दूसरा मस्तिष्क सूक्ष्म प्राण रूप है। जो श्वास हम लेते हैं इसका सार भाग अमृत रूप होकर ऊपर उठता है। वह हमारे सिर में पहुँच कर प्रथम मस्तिष्क में आश्रय लेकर कार्य करता है। तीसरा मस्तिष्क अति सूक्ष्म प्राण रूप है जो कि हमें ऋषिओं द्वारा मन्त्रों से प्राप्त होता है। इन तीनों प्रकार के मस्तिष्कों की हवि जब इन्द्र और अग्नि के लिये समर्पित हो जायेगी तो फिर पतन की और बन्धन की आशा नहीं रहती।

दो हवियाँ दूध की दी जाती हैं। एक हवि वरुण देव को तो दूसरी मरुतों के नाम से।[1] वरुण क्षत्र है, शासक और नियन्ता है तो मरुत् शासनीय प्रजा है। इन दोनों को भी पुष्टि हेतु दूध की हवि की आवश्यकता है। जैसे गाय के अमृतसम दूध से शरीर की शासक तथा शासनीय दोनों शक्तियाँ पुष्ट होती हैं, साधु कर्मकारी होती हैं, उसी प्रकार से आत्मा की शासक तथा कार्यसाधक शासनीय प्रजाएँ भी वेदधेनु के अमृतकल्प ज्ञानदुग्ध पान से सम्यक् कार्य करती है। ज्ञानरूपी दूध की हवि पाकर वरुण और मरुत् देव तृप्त होकर वलवान् होते हैं और फिर पतन का अवकाश नहीं रहता। जब आत्मा स्वयं सही शासक और कार्य सम्पादक हो गया तो फिर परमेश्वर वरुण को पाश उठाने की क्या आवश्यकता ? जब आँख साधुदर्शी प्रजा है, जब कान साधुश्रावी प्रजा है, जब जिह्वा साधुप्राशी है और इनका राजा मन साधु-शास्ता है तो कहो पुनः पतन का सन्देह कहाँ ?

पांचवीं हवि प्रजापति देव को दी जाती है। जैसे परमेश्वर सदा सब प्राणियों का यथावत पालक होने से महान् प्रजापति है, उसी प्रकार मनुष्य को भी अपने आश्रितों का सदा पालन पोषण आत्मवत करना चाहिये। प्रजा-पति की हवि भी पुरोडाश की ही दी जाती है। हमारे मस्तिष्क का महत्त्वपूर्ण भाग तो इन्द्र और अग्नि के अर्पित होना चाहिये परन्तु मस्तिष्क का एक भाग प्रजापति देव के लिये भी अर्पित करना चाहिये, जिससे हमारी आत्मा में प्रजापालना का भाव सदा जागृत रहे। जो व्यक्ति इन पवित्र भावों को आत्म-

1: द्र. मा. श. २-५-२-९, १०

गत कर श्रद्धा से वरुणप्रघासयज्ञ में हवियाँ देते हैं, सचमुच वे वरुण के पाशों से एक दिन मुक्ति पाकर मुक्त विहार करते हैं। फिर उन्हें कहीं किसी का भय नहीं। वे सभा में निर्भय होकर बोलते हैं। मान अपमान का भय भी उनको नहीं होता। रोग शोक का भय भी समाप्त हो जाता है। सचमुच यही सच्चा अमृत जीवन है। इस प्रकार आचार्य गालव ने वरुण के पाशों से मोक्ष दिलाने वाले वरुणप्रघास का कुछ रहस्य प्रकट करके अपने प्रवचन को विराम दे दिया। शिष्य इस पवित्र ज्ञानरस का पान कर कृतकृत्य हो गये। उनका सिर श्रद्धा से अपने आचार्य के चरणों में झुक गया।

॥ इत्योम् ॥

अष्टादश: पुष्प:

देखो ! तुम्हारी स्वधा को पितरों के स्थान पर असुर राक्षस तो नहीं खा रहे हैं ?

ऋषियों ने ज्ञानी अनुभवी वृद्ध महात्माओं को पितर कहा है। वेदों के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ को पुत्र के समर्थ हो जाने पर आत्मकल्याण के लिये घर-गृहस्थी के कार्यों का त्याग कर देना चाहिये। एकान्त शान्त ऋषि आश्रमों में जाकर परमार्थ की सिद्धि का उपाय करना चाहिये। प्राचीन काल में राजा महाराज तक राजपाट को छोड़ वनी हो जाते थे। गृहस्थजन इन परमार्थी महात्माओं की पूर्ण श्रद्धा के साथ सेवा करते थे। ज्ञानी वृद्ध वनस्थ भी गृहस्थों को कल्याण का उपदेश करते थे। ऐसे सदुपदेश के दाता पितर सचमुच पूजा के पात्र हैं। यही कारण है पुरा काल में प्रत्येक गृहस्थ अमावास्या के दिन पितृयज्ञ करते थे। ज्ञानी वृद्ध माता पिता दादा दादी को घर बुला और उनका विनयपूर्वक अभिवादन करते तथा उत्तमोत्तम भोजन सामग्री वस्त्रादि उन्हें भेंट करते थे। पितर लोग अपना हार्दिक आशीर्वाद और उपदेश देकर गृहस्थों को कृतार्थ करते। कुछ गहन साधना में लीन महात्मा गृहस्थों के घरों में न आते तो गृहस्थजन उनके लिये उनके सेवनीय पदार्थ वहीं भेजते और उनके पुण्य दर्शनों से मङ्गलकारी प्रेरणा प्राप्त करते। यह एक अति-कल्याणकारी सुन्दर परम्परा थी। ऋषियों ने इनके लिये बार-बार प्रेरणा दी है। वेद पितरों की सेवा का निर्देश करते हैं। यजुर्वेद के दूसरे अध्याय के अन्त में पितरों की सेवा का सुन्दर उपदेश दिया एक मन्त्र में कहा है—

अत्र पितरो मादयध्वम् ।[1]

हमारे घरों में वृद्ध ज्ञानी सदा आयें और अपने अभीष्ट पदार्थों का सेवन कर तृप्त हों। इतना ही नहीं वेद अति सुन्दर प्रेरणा देते हुये कहता है—

उर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालम्परिश्रुतम् ।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितृन् ।।[2]

---

१. यजुर्वेद २-३१
२. यजुर्वेद २-३४

अर्थात्—बल और प्राण शक्ति को प्राप्त करने वाले अमृतरूप दूध, घी, रोगबाधा के निवारक रसपूर्ण फलादि भोज्य पदार्थों के द्वारा पितरों को सदातृप्त करो। जो लोग वेद की आज्ञा के अनुसार ज्ञानीजनों का अन्न धन से पूजन करते हैं, वे निश्चयेन कल्याण को प्राप्त करते है। ज्ञानी महात्मा प्रसन्न हो उन्हें कल्याणकारी उपदेश कर सुपथ का बोध करा देते हैं। इतना ही नहीं इन्हीं पितरो ने अपने गृहस्थ जीवन में बहुत कुछ प्रदान किया। कहीं हम वृद्ध पितरों के बनाए कूप (कूवे) का पानी पीते हैं तो कहीं इन्ही द्वारा पालित पोषित वृक्षों के मधुर फल खाते हैं। कहीं इन्हीं पितरों के श्रम से बने खेतों में हम खेती करते हैं तो कहीं उनके द्वारा बनाई बड़ी-बड़ी नहरों से हमारे खेत आज लहला रहे हैं। कुछ और गहराई से सोचे तो पता लगेगा यदि पितरजन न होते तो हमारा जीवन अतिदुःखपूर्ण होता। ये ही तो है जिन्होंने हमें बचपन में पाला ही नहीं अपितु बड़े-बड़े आचार्यों के चरणों में भेज कर हमें ज्ञानवान् भी बनाया। इतना ही नहीं जब हम विद्या पूरी करके आये तो इन्हीं पितरों ने धन धान्य से सजे घर का हमें मालिक बना दिया था मन्त्र भी कहता है—

गृहान्न पितरो दत्त।[1]

हमें बने बनाये घर देने वाले ये पितर हैं। माता-पिता आदि इन पितरों के उपकारों की कोई गिनती नहीं।

पुराने लोगों ने कहा है। एक बार महर्षि गौतम ने बड़ा यज्ञ अपने आश्रम में रचाया। बड़े-बड़े ऋषि उस यज्ञ के ऋत्विग् बने। अनेक राजा महाराजा उस यज्ञ को देखने आये। इन्द्र उपाधि धारी सुन्दर त्रिविष्ठप् (तिबत) का राजा भी यज्ञ दर्शन के लिये पहुँचा। महर्षि गोतम यज्ञ के यजमान बनकर बैठे तो साथ में उनकी धर्मपत्नी अहल्या भी बैठी। यद्यपि अहल्या बड़े-बड़े पुत्रों वाली हो चुकी थी तथापि उसके रूप में कोई कमी नहीं आई थी। त्रिविष्टप् देश का राजा इन्द्र अहल्या के मनमोहक रूप को देख कर मोहित हो गया। अहल्या भी इन्द्र के सुन्दर रूप को देख क्षण भर के लिये मोहित हो गई। महर्षि गौतम को यह सब अति बुरा लगा। यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् महर्षि गौतम ने अहल्या से कहा तू धर्म से गिर गई। तूने ऋषि पत्नी होते हुये पर पुरुष का आध्यान किया। जब ऋषिपत्नियाँ ही धर्ममर्यादा का भञ्जन करेंगी तो अन्य स्त्रियों का क्या होगा? महर्षि ने आवेशपूर्वक

---

१. यजुर्वेद २-३२

कहा—अहल्ये तू क्या नहीं जानती नारी जाति के दूषित होने पर उत्तम सन्तान का लाभ कोई नहीं कर सकता। इसलिये ऋषियों ने नारी के चरित्र शुद्धि पर बड़ा बल दिया है। ऋषियों का मन्तव्य है चारित्र्यहीन नर नारी मृत्युदण्ड के भागी हैं। महर्षि के बड़े लड़के शातानन्द तो महाराज जनक के पुरोहित थे। छोटे पुत्र चिरकारी माता-पिता के पास आश्रम में ही रहते थे। महर्षि ने कठोर हृदय से अपने आश्रमवासी पुत्र को निर्देश दिया—हे चिरकारी ! तुम्हारी माता ने पर पुरुष इन्द्र को कामदृष्टि से देख महापाप किया है अतः इसे मृत्युदण्ड दो। चिरकारी अपने पिता महर्षि गौतम का निर्देशवचन सुनकर असमञ्जस में पड़ गया। वह क्या करे क्या न करे इसका निर्णय नहीं कर पाया। चिरकारी को सोचते विचारते रात हो गई पर चिरकारी अपने महर्षि पिता का आदेश पूरा नहीं कर सका। चिरकारी खड़ा हुआ तो आकाश में चन्द्रमा अपना प्रकाश बिखेर रहा था। उसके शुभ्र प्रकाश में सामने खड़े विशाल वटवृक्ष के असंख्य पत्ते अलग-अलग दिखाई दे रहे थे। चिरकारी के हृदय के अन्दर एक आवाज प्रकट हुई और उसके मुख से सहसा निकला—

कोई व्यक्ति इस विशाल वट वृक्ष के पत्तों को गिन सकता है पर धरती पर माता के उपकारों को कोई गिनने वाला मुझे दिखाई नहीं देता।[1] जब चिरकारी ने ऊपर आंख उठाई तो विशाल आकाश में लाखों तारे चमचमाते उसने देखे और चिरकारी बोल उठा—आकाश के तारे कोई गिन भी सकता पर माता के उपकारों को कोई नहीं गिन सकता। चिरकारी अपनी माता के उपकारों को याद कर रो पड़ा और उसने अपने महर्षि पिता को कह दिया। मैं माता को मृत्युदण्ड नहीं दे सकता। महर्षि गौतम बोले—हे चिरकारी ! जो ऋषि धरती वासियों के लिये आचारव्यवस्था का नियम बनाते हैं क्या उन आचार नियमों को ऋषि आश्रम में तोड़ा जाना पाप नहीं है ? ऋषि ने नारी की पवित्रता की रक्षा के लिये अपने प्यारी पत्नी अहल्या को निर्देश दिया—

वायुभक्षा निराहारा तपन्ती भस्मशायिनी ।
अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन् निवत्स्यसि ।[2]

हे अहल्ये ! अपने पाप की निवृत्ति के लिये आज से तू बस अत्यन्त अल्पाहारिणी होकर वायु का ही आधिक्येन सेवन करेगी। तेरा शयन आज से

---

१. यह कथा पुराणों में आती है रामायण में भी इसका कुछ सङ्केत है।
२. रामायण बालकाण्ड ४८-३०

यज्ञवेदि की अग्नि के पास धरती पर ही होगा। आज से तू सबसे अदृश्य होकर इस आश्रम में निवास करेगी। ऋषि पत्नी अपनी भूल पर पछताई और उसने अपने महर्षि पति के निर्देश का अक्षरशः पालन करते हुये महान् तप किया। उसकी घोरतपस्या को देख बड़ें-बड़े ऋषि भी चकित हो गये। महान् ऋषि विश्वामित्र भी तपस्विनी अहल्या के दर्शन करने दशरथ पुत्र श्री राम और लक्ष्मण को लेकर उसके आश्रम में गये।

चीन के महाविद्वान् कन्फ्यूसियस् से एक दिन एक शिष्य ने पूछा—गुरुदेव ! माता-पिता के ऋण से मनुष्य मुक्त कैसे हो सकता है ? अति मेधावी कन्फ्यूसियस् जो सदा कठिन से कठिन प्रश्न का उत्तर तुरन्त देते थे उन्हें इस प्रश्न का कुछ भी उत्तर सूझ नहीं पाया। वे मौन हो गये। शिष्य ने विनय पूर्वक अपने महान् आचार्य से कहा—हे महामति चीन के आचार्य ! आप मुझे माता-पिता के ऋण सें मुक्त होने का उपाय क्यों नहीं बताते ? अतिमेधावी कन्फ्यूसियस् ने गहरा श्वास लेकर कहा—विनीत शिष्य ! माता-पिता के उपकारों का बदला कोई नहीं चुका सकता। यदि तुम फिर भी पूछने के आग्रही हो तो सुनो—माता-पिता को अपने कन्धों पर बैठा कर वे जहाँ-जहाँ यात्रा करना चाहें वहाँ ले जायं, वे जो-जो खाना चाहें वह-वह खिलाये। उनकी आत्मा को अपनी सेवा से सदा प्रसन्न रखे तो माता-पिता के कुछ ऋण से मुक्ति मिल सकती है।

ऐसे महोपकारी माता-पिता आदि वृद्धों की सेवा करना सचमुच प्रत्येक गृहस्थ का परमकर्तव्य है। ये पितर जन वृद्ध होने पर भी, आत्मसाधना में संलग्न होने पर भी अतिकल्याण हेतु हैं। इनके ईश्वर भक्ति सें विमल हुये हृदय से निकले अनुभवसिद्ध वाक्य गृहस्थों को सदा सुपथ का बोध कराते हैं। अतः इनके सत्कारपूर्वक सेवन का निर्देश सदा ऋषियों ने किया है। उन्हीं पितरों के पूजन और उपदेशग्रहण की शिक्षा देने के लिये ऋषियों ने पितृयज्ञ और उन्हें पिण्डदान का विधान किया है। वेदमन्त्र इन भद्रकारी पितरों की सेवा की वार-वार प्रेरणा करते हैं। जब हमने यह ऋषियों की बात कही तो एक व्यक्ति बोला—पितृयज्ञ और पिण्डदान तो मरे हुये माता-पिता आदि के लिये किया जाता है। देखो महर्षि याज्ञवल्क्य के पुत्र और शिष्य कात्यायन मुनि ने स्पष्ट लिखा है—

प्रेतेभ्यो ददाति।[1]

---

१. का. श्रौ. सू. ४—१२३

अर्थात्—जो मर गये हैं उन पितरों के निमित्त पिण्डदान करे। हमने कहा—भाई !, सूत्र का अर्थ ऋषियों के कथन को ठीक न समझने से उलटा ग्रहण कर लिया है। वेदों का तथा ऋषियों का तात्पर्य सर्वथा ऐसा नहीं है। देखो कात्यायन के गुरु और पिता महर्षि याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

अथोदपात्रमादायावनेजयति ।[1]

अर्थात्—अब जल का पात्र लेकर अपने वनस्थ हुये पितरों को पिण्ड ग्रहण करने के लिये हाथ धुलाता है। जरा सोचो क्या मरे हुये पितादि का हाथ धुलाना सम्भव है। फिर इन मृतपितरों को पिण्डदान करने वालों से पूछो तुम पिता, पितामह और प्रपितामह (परदादा) के नाम से ही पिण्डदान करते हो क्या उनके पीछे वाले भूखे ही मरेंगे। असली बात तो यह है पिता, दादा, प्रदादा का ही जीवित रहना सम्भव है। अतः इन तीनों के पूजन का विधान ऋषियों ने किया है।

इतना ही नहीं देखो शतपथब्राह्मण के अन्त में पितरों के मर जाने पर पितृमेध नाम का यज्ञविधान किया है। वहाँ ऋषि ने स्पष्ट लिखा है कि पितृमेध पितरों के मृतदेह का श्मशान कर्म है।[2] विचार करो, यदि पितर मरे हुये हैं तो पुनः उनके श्मशान का विधान किस प्रयोजन से कहा। अतः पितर नाम वृद्ध ज्ञानियों का है। अश्वमेध यज्ञ में जब सभी प्रजाएँ उपस्थित होती हैं। वहाँ भी पितरों के उपस्थित होने का उल्लेख महर्षि याज्ञवल्क्य ने किया है।[3] कात्यायन मुनि के सूत्र का अर्थ भी यह है कि जो माता-पिता आदि घर छोड़कर वन में चले गये। उनको अन्नादि उत्तम पदार्थ देने चाहिये। जब से आर्यावर्त देश में वेदज्ञान की कमी आई और गृहस्थ जन पुत्र पौत्र के मोहग्रस्त हो गये तो उन्होंने गृहत्याग कर वन में जाना छोड़ दिया। पुत्र के समर्थ हो जाने पर भी इन्द्रियों के सुखभोग में रागी हुये वृद्ध लोगों ने घर में रहने का आत्मनाशी मार्ग ग्रहण कर लिया तो जीविकालोभी पुरोहितों ने पितृयज्ञ के बहाने से मृतों के नाम पर स्वयं पिण्डभक्षण प्रारम्भ कर दिया। माता पिता के प्रति श्रद्धालु गृहस्थ इन विद्याशून्य जातिब्राह्मणों को खीर आदि उत्तमोत्तम

---

१. मा. श. २-४-२-१६
२. अथैस्मै श्मशानं कुर्वन्ति। —मा. श. १३-८-१-१
३. यमो वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य पितरो विशः। तत इम आसत इति। स्थविरा (वृद्धाः) उप समेता भवन्ति। तानुपदिशति। मा. श. १३-४-३-७ द्र. मा. श. २-४-२-१३

पदार्थ खिलाकर अपने को कृतकृत्य मान बैठे। यह सब वेदविरुद्ध अन्ध परम्परा है। सच्चा पितृयज्ञ ज्ञानियों की सेवाशुश्रूषा करना और उनसे उपदेश ग्रहण करना है।

लोगों ने वृद्ध जनों के उपकारों का स्मरण कर उनका सत्कार किया। उत्तम भोजन और नाना भेंट अर्पित की। प्रत्येक गृहत्यागी महात्मा को सद्-गृहस्थों ने अपने माता पिता के रूप में ही देखा, उनकी मनोयोग से सेवा की। इन सन्त जनों को रागद्वेष से मुक्त समझ गृहस्थों ने इन्हें धन धान्य भेंट किया कि ये ज्ञानी हमारे धन का ठीक उपयोग करेंगे और हम पुण्य के भागी बनेंगे। इस भेंट पूजा को देख कुछ असुर प्रकृति के लोग भी साधुवेषधारी बन गये। सर्वोच्च अध्यात्म शिखर पर पहुँच जाने पर जिस संन्यास का विधान ऋषियों ने किया था उसको इन सुखसुविधाभोगी असुरों ने धारण कर सर्वोच्च पूजा को प्राप्त कर लिया।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने जब पितृयज्ञ का विधान किया तो पितरों को भेंट पूजा देने से पूर्व उन्होंने दो देवों को हवि देकर उद्बुद्ध करने का विधान किया।[1] उनमें एक देव है अग्नि तथा दूसरा सोम। अग्नि ज्ञान के प्रकाश का देवता है। जैसे आग जली नहीं कि अन्धेरा दूर, उसी प्रकार ज्ञान का प्रकाश होने पर सत्यासत्य का ठीक भान हो जाता है। सोम देवता सरसता का श्रद्धा का देवता है। ऋषियों का निर्देश है कि पितरों की, ज्ञानी सन्त महात्माओं की और सेवा पूर्ण सरसता श्रद्धा से करो। इसलिये महर्षि याज्ञवल्क्य ने पिण्डदान से पूर्व सोम और अग्नि को दी जाने वाली आहुति का विधान करते हुये लिखा है—

स देवैः प्रसूतः—अथैतेभ्यः पितृभ्यो ददाति।[2]

अर्थात् वह अग्नि और सोम आदि देवों से प्रेरित हुआ ही इन पितरों को भेंट प्रदान करता है। ज्ञान के प्रकाश में और पूर्ण श्रद्धा के बिना दिया दान कभी कल्याणकारी नहीं होता।

इतना ही नहीं असुरों से बचने के लिये ऋषि ने कहा—सदा सचेत रहो, क्योंकि प्रायः सुखभोगी असुर पितृवेषी बन कर गृहस्थों का धन हड़प कर मौज उड़ाते देखे जाते हैं। इनसे प्रतिपल सावधान रखने के लिये महर्षि याज्ञवल्क्य

---

१. मा. श. २-४-२-१३
२. मा. श. २-४-२-११

ने पितृयज्ञ के समय एक जलती हुई लकड़ी को रखने का निर्देश दिया है। वे लिखते हैं—

अथ पुरस्तादुल्मुकं निदधाति ।[1]

उलमुक नाम लोक में जलती हुई लकड़ी का है परन्तु असली उमुल्क तो वह प्रखर ज्ञान का शुभ्र प्रकाश है जिससे सन्तवेषधारी असुरों की पूरी पहचान हो जाये और हमारी भेंट केवल सच्चे सन्तों को ही अर्पित हो।

भद्रो ! ज्ञान उल्मुक को जलाओ। अन्धेरे में कहीं तुम पुण्य के भरोसे पाप बेल को तो नहीं सींच रहे हो। सन्तवेषधारी नानाविध असुर तुम्हारे धन हड़पने के लिये तत्पर हैं। सदा उल्मुकधारी होने की आवश्यकता है। एक जगह हमने वन में साधुवेषधारी असुर को इस प्रकार लूटते देखा। यह पितरों की स्वधा का भोगी वैसे तो जंगल के खरगोश तक मार कर खा जाता था। सुरा सुन्दरी का भोग भी छिप छिपाकर करता। पर मेले के दिन जब लोग अपने सन्तों की पूजा के लिये जंगल में आते तो यह सन्तरूपधारी वञ्चक सिद्धों के समान आसन मार बैठ जाता। लोग इस पापी को सिद्धसन्त जान उसके चरणों की वन्दना करते, धन धान्य की भेंट चढ़ाते। हमने शाम को देखा तो चकित रह गये। रुपयों का ढेर उस साधुवेषी की कुटी पर लगा है।[2] लोगों ने पुण्य के स्थान पर पाप को भेंट चढा दी। हमें यह देख महर्षि याज्ञवल्क्य की जलती लकड़ी की याद आई।

इधर एक अन्य ज्ञानियों के वेषधारी को भी देखो। इस ने घर छोड़ा जरूर; पर आत्मसाधना के लिये नहीं अपितु विना श्रम नाना विध इन्द्रिय सुख भोगों के लिये; यह साधुवेषी हो गया। भोले भोले उल्मुक विहीन (उद्बुद्ध ज्ञान ज्योति से रहित) लोगों के खूनपसीने की कमाई को हड़पने के लिये इसने नाना उपाय ढूंढ लिये। इसने विद्यालय खोला। गरीब बालकों के नाम से बहुत सारा धन बटोरा। लोगों ने सोचा गृहत्यागी है, ब्रह्मचारी है, विद्वान् है, परोपकारी है, गरीब बालकों को विद्या देकर पुण्य कार्य कर रहे हैं अतः बहुत सारा धन अर्पित किया। पर विद्यालय में पढ़ाने वाला कोई नहीं। कुछ बालक इस त्यागी की सेवा में लगे हैं तो कुछ इसके लिये बहुविध भोजन बनाने में लगे रहते हैं। तीन चार बालक गाय की सेवा में लगे रहते हैं। गाय की सेवा जरूर बालक करते हैं पर उन वेचारों को दूध के स्वाद तक का पता नहीं। त्यागी

१. मा. श. २-४-२-१४
२. नर्मदा स्रोत अमरकण्टक पर यह लेखक ने स्वयं देखा था।

जी खूब घी दूध खाकर पल गये पर बालक सूखे पड़े हैं। सूखे सूखे बालकों को देख इस साधुवेषी को कोई दया नहीं आती। दया आये कहाँ से यह जो ज्ञानियों की स्वधा का वञ्चक असुर ठहरा। इसे देख हमें पुनः महर्षि याज्ञवल्क्य के उल्मुक की याद आई। ऋषि ने सर्वथा सत्य कहा है। पितरों को भेंट करने से पहले ज्ञान के शुभ्रप्रकाश में देख लो कि यह सचमुच पितर भी है वा नहीं अथवा हमारी भेंट-पूजाओं का लोभी छद्मवेषधारी असुर है। भाइयो! यदि स्वयं ज्ञानवान् नहीं हो स्वयं उल्मुकधारी नहीं हो तो किसी ज्ञानवान् से पूछ लो। क्योंकि विना ज्ञान के प्रकाश अन्धेरे में तुम पितरों के स्थान पर, सन्त विज्ञानी जनों के स्थान पर असुर का पोषण कर पापभागी तो कहीं नहीं हो रहे हो। ज्ञान ही तुम्हें सत् और असत् का भेद बता सकेगा। महर्षि याज्ञवल्क्य ने ठीक ही लिखा है—

अग्नि हि रक्षसामपहन्ता तस्मादेवं निदधाति।[1]

अर्थात् ज्ञान ही परधनभोगी राक्षसों को मार भगाने वाला है। इसलिये उस ज्ञान की प्रतीक रूप यह जलती लकड़ी (उल्मुक) पितृयज्ञ में सामने रखी जाती है। यदि असुर राक्षस तुम्हारे धन धान्य को ठगने आयें तो उनके मुख पर यह जलती लकड़ी उठा कर मार दो, तब यह असुर राक्षस उलटे पैर तुम्हारे द्वार से भाग जायेगा और तुम राक्षसपालन के पाप से बच जाओगे। जैसे प्रकाश होने पर चोर लुटेरे छिप जाते हैं भाग जाते हैं वैसे ज्ञान की दीप्ति के आगे असुरों के पैर नहीं जमते। ये असुर और राक्षस वहीं डेरे डालते हैं जहाँ ज्ञान का प्रकाश नहीं।

यह देखो! एक बड़ा धनवान् गांव है। धन की प्रचुरता तो है पर ज्ञान की दरिद्रता छायी है। एक असुरवृत्ति राक्षस ने गांव को निहारा तो देखा धन धान्य बहुत है। एक एक किसान का हजारों हजारों का गन्ना बिक रहा है। धन कमाने के बड़े बड़े उद्योग कर रहे हैं। कई कई फसलें तैयार कर धरती से सोना निकाल रहे हैं। इसके विपरीत ज्ञानदीप जलाने का कोई प्रयत्न नहीं। किसी विज्ञानी का सत्संग ये नहीं करते, ऋषि महर्षियों के कल्याणकारी ग्रन्थ भी ये नहीं पढते। असुरजन ने अपने लिये सही स्थान इस गांव को समझा। गांव के पास के जंगल में आसन लगा सन्तवेष में बैठ गया। शरीर अति निश्चल है। जैसे बगुला मछली की ताक में ध्यान लगाये होता है, उसी प्रकार यह भी भक्तों की आस में बैठा है। ग्रामवासियों ने एक दो

---

१. मा. श. २-४-२-१५

दिन तो कोई ध्यान नहीं दिया पर जब कुछ ग्रामवासियों ने लगातार महात्मा को ध्यान में बैठे देखा तो वे उसकी सेवा में पहुँच गये। भक्तों ने उन्हें श्रद्धापूर्वक विविध पक्वान्न और दूध आदि भेंट किये। सन्त जी अन्दर से खुश थे पर बाहर से बोले--मैं कुछ भी ग्रहण नहीं करूंगा। मुझे इन सब पदार्थों की कोई कामना नहीं। भक्त लोग अपने ग्राम में एक सन्त को भूखा देख बड़े दुःखी हुये। वे पुनः श्रद्धा से बोले—महाराज ! आप हमारी सीमा में भूखे कैसे रह सकते हैं। सन्त जी बोले जब तक भगवान् का मन्दिर नहीं बन जाता मैं तुम्हारा कुछ भी ग्रहण नहीं करूंगा। श्रद्धालु भक्तों ने आकर सभी ग्रामवासियों को तपस्वी की कथा सुनाई। एक समझदार व्यक्ति ने कहा जो भगवान् कण-कण में है, उसे मंदिर की क्या आवश्यकता। जो भगवान् सर्वव्यापी है उसका मन्दिर कौन बना सकता है। भक्त बोले—क्या हमारे गांव के वन में एक सन्त भूखा निवास करेगा दूसरे ने कहा—सन्त बहुत पहुँचा हुआ है। देखो सात दिन हो गये ? उसने वायु के अतिरिक्त कुछ सेवन नहीं किया, फिर भी उसका तेज विलक्षण है। शरीर भी अक्षीण है। क्या ऐसे सन्त का निराहार रहना हमारे लिये श्राप नहीं होगा। दिन व्यतीत होते गये। श्रद्धा बढ़ती गई। एक दिन सारे ग्रामवासियों ने सहस्रों रुपये इकट्ठे किये और सन्त के चरणों में अर्पित कर अन्न ग्रहण करने की प्रार्थना की। ग्रामवासी बड़े प्रसन्न थे कि हमने एक उच्चकोटि के सन्त की सेवा करके महान् पुण्य को प्राप्त किया है। घर में जिसकी बूढ़ी माँ भी सूखी रोटी खाती थी, उसने भी सन्त के लिये अपना भाग दिया। जिसके प्यारे बच्चे ने स्कूल की फीस के बिना पढ़ाई छोड़ दी थी, उसने भी सन्त के लिये धन दिया। जिसके पास मात्र एक घर मिट्टी का था, उसी में स्वयं अपने पशुओं के साथ सोता था, उसने भी पुण्यलाभ की आशा से रुपये दिये। पर यह निर्दयी असुर रात में सारे धन को लेकर चम्पत हुआ। दिन रात श्रम करने पर भी जो किसान सारे वर्ष में नहीं कमा पाता उससे अधिक धन वह साधुवेषी धूर्त १५ दिन में पा गया। प्रातः जब श्रद्धालु भक्त भेंट लेकर पहुँचे तो सन्त का आसन खाली था। एक व्यक्ति ने आसन उठाया तो वह चकित रह गया। आसन के नीचे एक घड़ा था, जिसमें लड्डुओं के कुछ कण शेष पड़े थे। लोगों की आंख खुली की खुली रह गई। वे जान गये कि महात्मा बिना खाये सतेज क्यों था ? बिना अन्न ग्रहण किये सबल कैसे था ? लोग अपने अज्ञान पर पछता रहे थे।

यही कारण है अति दयालु ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा –भद्रो ! भेंट चढ़ाने से पहले आग जला कर देख लो। जलती लकड़ी के संरक्षण में ही सदा

पितरों को पिण्डदान करो। यदि तुमने अन्धेरे में पिण्डदान किया तो असुर पलेंगे, राक्षस बढेंगे और सच्चे भद्र सन्त पितर भूखे मरेंगे। धर्म का लोप और पाप की वृद्धि होगी। इसलिये महर्षियों ने कहा सन्त पूजा के समय, पितरों को भेंट स्वधा अर्पित करते समय सदा उल्मुक (जलती लकड़ी) को सामने रखो। असुर राक्षस पितररूप घर के साधुवेषी वन के आये तो उन्हें अग्नि के प्रकाश से परख कर दूर भगाओ। वेद ने भी कहा है—

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुरा सन्तः स्वधया चरन्ति।
परा पुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टा न् लोकात् प्रणुदात्यस्मात्॥[1]

अर्थात्—जो लोग असुर होते हुये भी पितरों, ज्ञानी सन्तों का रूप धारण कर उनको दी जाने वाली भेंट (स्वधा) को खा जाते हैं, ऐसे असुर जो इधर तथा उधर सब ओर से वञ्चन कर लेते हैं, अग्नि (ज्ञान) उन्हें इस लोक से दूर करे। इसलिये साधु सन्तों के वेष में आये जनों का स्वागत करने से पहले उनको धन अर्पित करने से पहले देखलो इसमें साधु सन्त पितरों के लक्षण हैं भी वा नहीं। देखो! सच्चा ज्ञानी साधु पुरुष सदा परहिताकांक्षी ही होता है। ज्ञानी पितर लोग सदा आत्मजित होते हैं। धन वैभव का संग्रह वे नहीं करते। इन्द्रियों के सुखभोग से वे सर्वथा परे होते हैं। यदि श्रद्धाभक्ति से उन्हें कोई धन भेंट करता है तो वे अतिशीघ्र उसको परोपकार में लगा देते हैं। उनमें काम क्रोध ईर्ष्याद्वेष का सदा अभाव रहता है। राग द्वेष से वे दूर होते हैं। मन और इन्द्रियां सदा उनके वशवर्ती रहती हैं। वे सदा अनृत (झूठ) से दूर और सत्यभाषी होते हैं।

यदि सच्चे साधु पुरुष के लक्षण देखना चाहो तो इन्हें देखो। ये महर्षि दयानन्द सरस्वती हैं। रेवाड़ी के राजा के निमन्त्रण पर वहाँ आये और राजा प्रजा सब को सत्यधर्म का उपदेश करने लगे। लोग इनके तेजस्वी साधु स्वरूप और उपदेशामृत से कृतकृत्य होते। एक गरीब भक्त का हृदय श्रद्धा से भर आया। उसने ऋषिचरणों में निवेदन किया—हे महर्षे! मैं आपकी दूध से सेवा करना चाहता हूँ। महर्षि ने पूछा—धर्मशील भद्र! तेरी गाय कितना दूध देती है? भक्त ने उत्तर दिया—महर्षे एक समय अब तो दो सेर ही दूध होता है। ऋषि ने पुनः भक्त से प्रश्न किया तुम्हारे घर में कितने दूध पीने वाले हैं? भक्त ने कहा सात। ऋषि बोले— भक्त! हम केवल तुम्हारा एक पाव दूध ले सकते हैं। निर्धन भक्त ने दुःखी होकर कहा—मैं इतने महान्

---

१. यजुर्वेद २-३०

ऋषि को केवल एक पाव दूध कैसे दे सकता हूँ। ऋषि परदुग्धपायी असुर नहीं थे। उन्होंने एक पाव से अधिक दूध लेने से सर्वथा निषेध कर दिया। पितर वे ही हैं, ज्ञानी और सन्त वे ही हैं जो इन्द्रियों के भोग राग से रहित हैं। भोग की वासना जिन्होंने मार दी है। ऐसे सत्पुरुषों की, ज्ञानीजनों की सदा सेवा करो। इन्हें धन धान्य अर्पित करने से धर्म की वृद्धि होकर सुख शान्ति बढ़ती है। पर बिना देखे विचारे असुर राक्षसों की सेवा यदि की, उन्हें भेंट चढ़ाई तो निश्चय से जानो पाप की वृद्धि होकर महान् दुःख और क्लेश का प्रसार होगा। इसलिये महर्षि याज्ञवल्क्य ने विधान किया—

अथ परस्तादुल्मुकं निदधाति। स यदनिधायोल्मुकमथैतत् पितृभ्यो दधात् असुररक्षसानि हैषामेतद्विमथ्नीरन्।[1]

अर्थात्—अब पितरों को स्वधा देने से पहले जलती लकड़ी (उल्मुक) को सामने रखता है। वह यदि बिना उल्मुक रखे पितरों को देने लगा तो असुर राक्षस ही उसकी भेंट पूजा को खाने लगेंगे।

—

1. मा. श. २-४-२-१४

एकोनविंशः पथः

वृत्रासुर से एक होकर लड़ो अन्यथा वह तुम्हें दास बना लेगा

प्राचीनकाल में आर्य लोग एक विशेष यज्ञ कार्तिक मास में करते थे। उस यज्ञ का नाम साकमेध था। यह साकमेध यज्ञ चतुर्दशी तथा पूर्णिमा इन दो दिनों में किया जाता था। आज तो आर्यावर्त (भारत) में इसका नाम भी कोई नहीं जानता। जब से इस पवित्र यज्ञ का अनुष्ठान भारत से लुप्त हुआ बस तब से इसकी दुर्गति के दिन शुरू हो गये। जब भारत के ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में इस यज्ञ की धूम थी, तब यहाँ घर-घर में प्रीति थी। ग्रामवासी एक दूसरे के सहायी होकर प्रेम से रहते थे। लूट खसोट चोरी चारी का कोई भय नहीं था। जब देशवासी श्रद्धापूर्वक इस यज्ञ का अनुष्ठान करते थे तो सारा देश स्वर्ग था। शत्रुपीड़ा का भय नहीं था। चोर डाकू कहीं नहीं थे। रूपयौवनभूषित बालाएँ सोना उछालती अचिन्त अभय विहार करती थीं। उनकी ओर आंख उठाने वाला पापी इस देश में कोई नहीं था। विदेशी लोगों की क्या हिम्मत कि इस आयावर्त देश पर आंख उठायें। आर्यावर्त के सम्राट् का धर्मरथचक्र अबाधगति से सर्वत्र घूमता था।

यहाँ देखिये! महर्षि याज्ञवल्क्य आर्यावर्त की पुरानी गुणगाथा का गान करते हुये कहते हैं—शौनक के पवित्र गोत्र में उत्पन्न देवापि के पुत्र इन्द्रोत के पौरुहित्य में जनमेजय ने सारी धरती को जीत कर धर्म का राज्य प्रतिष्ठित किया और सहस्रों वेदवेत्ता ऋषियों के निर्देशन में अश्वमेध का यज्ञानुष्ठान कर सच्चे राजधर्म को ग्रहण किया।[1] इनके शासन से सारी प्रजा पाप कर्मों को छोड़ धर्मतत्पर हो गई थी। इसके पश्चात् अयोध्या के राजा आह्लार ने सारी धरती पर धर्म का राज प्रतिष्ठित करके अश्वमेध यज्ञ किया था। आह्लार के पश्चात् उसी इक्ष्वाकु वंश के पुरुवास ने भी सम्पूर्ण धरती के राजाओं को जीत कर सरयु के तीर पर अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया। पाञ्चाल देश के

---

१. यह जनमेजय महाभारत काल से अतिप्राचीन है।

सम्राट् क्रैव्य ने सारी धरती पर धर्मध्वजा गाड़कर असंख्य वेदज्ञ ब्राह्मणों को सम्पूर्णधन दक्षिणा में दे दिया था।

इसी देश के द्वैतवन के राजा ने सभी असुरप्रकृति के राजाओं को युद्ध में परास्त कर धर्म प्रतिष्ठा का पुण्य कर्म किया था। शकुन्तला के प्रतापी पुत्र भरत ने यमुना के तीर पर ७८ बार अश्वमेध का अनुष्ठान किया तो इसी दुष्यन्त पुत्र भरत ने गङ्गातीर पर भी ५५ बार अश्वमेध का अनुष्ठान कर अतुल यशोराशि का लाभ किया था। ऐसा भी महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने शतपथ ब्राह्मण में गान किया है। इतना ही नहीं सुद्युम्न पुत्र ने ३३० राजाओं को धर्माधीन बना अश्वमेध का अनुष्ठान इसी आर्यावर्त की भूमि पर किया था।

जब याज्ञतुर ने सारी धरती पर विजय लाभ कर अश्वमेध को किया तो ब्राह्मण ऋत्विग् दक्षिणा को लेते-लेते थक गये थे।[1]

पाठकगण! हजारों लाखों वर्षों तक धरती पर एकक्षत्र धर्मराज की प्रतिष्ठा करने वाले इस आर्यावर्त से जब साकमेधादि पवित्र यज्ञों का मनोयोग से अनुष्ठान बन्ध हो गया, यज्ञों के नाम पर केवल आडम्बर और ऋत्विजों द्वारा मन्त्रों का तोतारटन्त रह गया, यज्ञों में उच्चरित किये जाने वाले मन्त्रों का भाव ग्रहण करना गौण हो गया, यज्ञ केवल दिखावे तथा दक्षिणार्जन तक सीमित हो गये तो आर्यावर्त के गौरवभानु को ग्रहण लग गया। धरती पर धर्म-प्रतिष्ठा तो दूर आर्यावर्त की पुण्य ऋषिभूमि में ही अन्धेरा छाने लगा। हृदय-केदार (खेत) में पापवासना के बीज अङ्कुरित होने लगे। वृत्रासुर ने मनुष्यों की आत्मा को घेर अपने अधीन बना लिया। वृत्रासुर, जो काम क्रोध ईर्ष्याद्वेष आदि विनाशकारी दुर्भावों का मूल है, उसके विनाश का उपाय करने के लिये आर्यावर्तवासी प्रतिवर्ष मिलकर साकमेध यज्ञ का अनुष्ठान करते थे। देखो वेदमूर्ति याज्ञवल्क्य कहते हैं—

वरुणप्रघासै वै प्रजापतिः प्रजावरुणपाशात् प्रामुञ्चत् ता अस्यानमिवा अकिल्विषाः प्रजाः प्राजायन्त। अथैतैः साकमेधै एतैर्वैदेवा वृत्रमघ्नन्। एतैर्वैव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्ताम्[2]

अर्थात्—आषाढ मास में प्रजापति पुरुष ने वरुणप्रघास के द्वारा प्रजा को वरुण के पाशों से छुड़ा दिया। अब कार्तिक मास में साकमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर देवों ने सर्वपापों, सकल क्लेशों के मूल वृत्र को मार डाला और उन्होंने अपने तथा संसार पर विजय लाभ कर लिया।

१. देखें मा. श. १३-५-४
२. मा. श. २-५-३-१

वरुण प्रघास से जहाँ पशुपीड़ा का निवारण होता है वहाँ वन्धनों के कारण वृत्र की लपेट से वचने का उपाय करना भी आवश्यक है। परधनभोगी शत्रुओं को मार भगाना भी आवश्यक है। हम वृत्रासुर को कैसे जीत सकते हैं ? ऐश्वर्यलुण्ठक वाहरी और अन्तरिक शत्रुओं को परास्त कैसे कर सकते है, यह जानना आवश्यक है। भद्रो ! पूर्व के देवकोटि के जनों ने वृत्रासुर पर जो विजयलाभ किया था उसका कारण महर्षि याज्ञवल्क्य ने साकमेध को वताया है।

देखो ! साक का अर्थ साथ। मेध का अर्थ यज्ञ साधक सार रस। इस प्रकार साकमेध का अर्थ हुआ परस्पर मिलकर पवित्रयज्ञ भाव को अन्तरात्मा में धारण करना। जैमिनि मुनि ने साकमेध का सही अर्थ प्रकट करते हुये लिखा है—

यत् साकमेधयन्तस्तत् साकमेधानां साकमेधत्वम्[1]

जो साथ-साथ एक दूसरे को वढ़ाना है यही साकमेध यज्ञ है। जहाँ अपनी उन्नति के साथ अपने देश भाईयों की उन्नति का भी भाव प्रवल है वहाँ मानो साकमेध यज्ञ हो रहा है। इसी सहभाव के, एक साथ उन्नति करने के पवित्र विचार की स्थिरता के लिये ऋषियों ने प्रतिवर्ष इस साकमेध के अनुष्ठान का विधान किया था। जो लोग इस यज्ञ के अनुष्ठान द्वारा अपनी आत्मा में सर्वोदय के भाव को जागृत कर लेते हैं वहाँ देवधन के लुब्धक वृत्रासुर की दाल नहीं गलती। वहाँ परधन भोगी शत्रुओं की पार नहीं बसाती।

देखो ! यूनान के वहुविजयी सिकन्दर के उत्तराधिकारी ने पुनः भारत को विजय करने का सुनहरा स्वप्न लिया। सततवाहिनी गङ्गा यमुना के उपजाऊ मैदानों की जीतने की आशा से वह विशाल सेना के साथ सिन्धु की ओर बढ़ा। परन्तु इस वार आर्यावर्त के लोग साकमेघ का पाठ पढ चुके थे। हजारों विद्वान् ब्राह्मण विना कुछ शुल्क लिये देश के कोने कोने में ज्ञान का पवित्र प्रसाद वाटने में लगे थे। क्षत्रिय अपनी नहीं अपितु सारे देश की रक्षा के लिये तत्पर थे। वैश्य अपना घर भरने में नहीं अपितु प्रत्येक देशवासी की भूख प्यास मिटाने में प्रसन्नता का लाभ करते थे। परिणामतः विदेशियों की वलवती सेना ने सिन्धु के उस पार ही हार कर घुटने टेक दिये। वे गङ्गा यमुना के मैदानों का एक तृण तक अपने घोड़ों को न खिला सके। सारा देश वलशाली वृत्र (शत्रु) की मार से सहज ही बच गया।

---

१. जै. जै. वा. २-३२

दूर की बात छोड़ो। सौ वर्ष से कुछ पहले ही का इतिहास देखो। विशाल भारत पर विदूर से आये कुछ अंग्रेज राज कर रहे हैं। चन्द्रगुप्त का आर्यावर्त सोने की चिड़िया था तो आज का आर्यावर्त भूख पीड़ित नरकङ्कालों का देश हो गया। चाणक्य का भारत अफगानिस्तान की ऊँची चोटियों तक फैला था तो आज अंग्रेजों ने उसी भारत को सैकड़ों से भी अधिक भागों में बाट कर भारतवासियों को भेड़ों की तरह गुलाम बनाया हुआ है। यहाँ साकमेध (साथ बढने) का कहीं कोई भाव नहीं दिखाई देता। अपना अपना राग और अपनी अपनी ढपली का तमाशा सर्वत्र दिखाई देता है। जिसको अपना पेट भरने का अवसर मिला वह अपने को कृतकृत्य मान प्रसन्न है। पास के भूखे नंगे भाई की दुर्दशा का उसे कोई खेद नहीं। स्वकीय भोगभावरूप वृत्र आवेष्टित जनसमुदाय भला महावृत्र का अपघात करने में कैसे कृतकारी हो? जो स्वयं पापपङ्क में डूबा है, वह पापियों का उद्धारकर्त्ता कैसे हो सकता है? जो स्वयं स्वार्थ सिन्धु में निमग्न है, वह डूबते का सहारा कैसे बन सकता है? यही कारण था कि अनेकों महापण्डितों के रहते देश अज्ञान की अन्धेरी रात में डूबा था। लाखों वीरों वाला देश होते हुये भी मुट्ठी भर विदेशियों के बन्धन में पड़ा था। सदावाहिनी बहुनदियों वाला देश भूख प्यास से जर्जरित था। यह कभी पुन: अटक से कटक, कश्मीर से कन्याकुमारी तक एक होकर स्वयं अपना शासक होगा ऐसी कल्पना भी अकार्य हो चुकी थी।

एक सूक्ष्मदर्शी ने अपनी पैनी आँखों से देखा। कैसे बड़े बड़े लडाकू योद्धा साकमेध के पवित्र भाव के बिना पराजय की धूल चाट गये। कुशाग्रबुद्धि मनीषी दयानन्द झट भांप गये कि जब तक स्वार्थ की हाण्डियों के स्थान पर परहित की हाण्डियाँ नहीं चढेंगी तब तक वृत्र (शत्रु) को घर से निकालना सम्भव नहीं। दयानन्द ने साकमेध की सच्ची आग अपनी अन्तरात्मा में जलाई। सकल सुख त्याग एक कोपीनी वह हो गया। किसलिये? देशवासियों को साकमेध का कल्याणकारी पाठ पढाने के लिये।

साकमेधी दयानन्द का प्रभाव अनुपम हुआ। यज्ञ का फल अवश्यम्भावी जो ऋषियों ने बताया था वह दयानन्द ने समग्रतया प्रत्यक्ष करा दिया। दयानन्द के साकमेध यज्ञ की अग्नि जगह जगह जल पड़ी। एक समय था बड़े-बड़े शास्त्री भी स्वार्थ की वासनारज्जुओं से बन्धे सत्य को छुपाये बैठे थे। पर दयानन्द ने साकमेध की पवित्र यज्ञाग्नि से स्वभोग भावरूप वृत्र को भस्म कर सत्य का ढोल महाकुम्भ के बीच बजा दिया। लाखों लोगों के बीच उन्होंने शङ्खनाद पूर्वक कह दिया कि जिन मूर्तियों के सहारे तुम पेट भर रहे हो ये

भगवान् नहीं पत्थर है, जो ये लाखों साधुवेशी हो बड़े बड़े ऐश्वर्यशाली मठों में मौज उड़ा रहे हैं, वे संन्यासी, ब्रह्मचारी, योगी नहीं अपितु परधन हड़पु भोगी हैं। लोग सोचते थे दयानन्द के यज्ञ की यह आग जल्दी ही बुझ जायेगी। स्वार्थी वृत्रासुर दयानन्द को शीघ्र परलोकगामी बना देंगे। पर साकमेध याजी दयानन्द की यज्ञाग्नि प्रचण्ड ही होती गई। यह देखो पंजाब का अतिमेधावी गुरुदत्त सहायक प्राध्यापक (Assistant Professor) के उच्चपद को छोड़ दयानन्द के साकमेध का याजक हो गया। उसके हृदयस्थ वृत्र के पांव उखड़ गये। वह सब इन्द्रिय सुखों को छोड़ अपने देश भाईयों के कल्याण में जुट गया। कुछ वृत्रवशी लोगों ने कहा—गुरुदत्त ने नौकरी छोड़ दी उसके पत्नी और बच्चे भूखे मरेंगे। पर इन नासमझों की स्वार्थ से अन्धी आंखों ने यह नहीं देखा यदि देशवासी अपने स्वार्थ से ऊपर नहीं उठेंगे तो एक नहीं लाखों बच्चे भूखे मर जायेंगे। यदि देशवासियों ने साकमेध की पवित्र अग्नि का आधान नहीं किया तो लाखों सुकुमार देवियाँ शत्रुओं द्वारा दासी बना स्वभोग्या बना ली जायेगी। हे स्वार्थचिन्तक जनो! एक बार स्वार्थ साधन तत्पर भारतीयों के उस इतिहास के पृष्ठों को तो पढो जिन में भारतीय नारियों की दारुणव्यथा के अक्षर उभरे हुये हैं। चित्तौड़ के किले के उन पत्थरों से पूछ देखो वे तुम्हें चिल्ला कर बतायेंगे। इस किले में कितनी बालाओं के घर उजड़ गये। सौ नही हजार नहीं लाखों बालक बालिकाएँ यहाँ आग की लपटों में तड़प कर मर गईं। यदि अमीर खुसरो आज होता तो वह बताता पद्मिनी कैसी स्वर्ग की देवी थी। वह अकेली नहीं हजारों सखियों के साथ इसी चित्तौड़ के किले में पापी खिलजी की क्रूरता से बचने के लिये आग में कूद गई थी।[1] आर्यावर्तवासियों को शताब्दियों तक यह दारुण व्यथा क्यों भोगनी पड़ी? यदि कुछ गहराई से विचार करोगे तो स्पष्ट आभास मिलेगा कि निजस्वार्थ में डूब कर ही आर्य जाति पापी वृत्र की शिकार हुई थी। साकमेध इस स्वार्थसाधन के सोच को मिटाने का पवित्र उपदेश देता है। इसलिये ऋषि ने कहा—

एतैः पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हन्ति।[2]

अर्थात् इस साकमेध के पवित्रभावों से ओत प्रोत हुआ व्यक्ति पाप का, द्वेषकारी शत्रु का हनन कर डालता है। सच्चा अभ्युदय याद रखो एकाकी

१. अलाउद्दीन खिलजी ने अमीर खुसरो जो एक बहुत बड़ा कवि था, को, पद्मिनी को एक बार दर्शन देने के लिये राजी करने हेतु भेजा था।

२. मा. श. २-५-३-१

उन्नत होने में नहीं है। एकाकी व्यक्ति का ऐश्वर्य कभी स्थिर नहीं। यदि चारों ओर के लोग भूखे नंगे तड़प रहे हैं तो स्मरण रखिये ! आप अकेले बहुत दिनों तक स्वादुभोजन नहीं खा सकेंगे। यदि आपके बन्धु भाई झोपड़ियों में क्लेश भोग रहे हैं तो निश्चयेन आपके सुख महल शीघ्र ढह जायेंगे।

जब जब धरती पर एकाकी सुख भोग का दुर्भाव बाढ़, जब जब पृथ्वी पर साकमेध का पवित्र भाव विनष्ट हुआ तब तब धरती पर खून की धारा वह चली। इसलिये बुद्धिमान् विवेकी पुरुष सदा सामुहिक कल्याण की चिन्तना करते हैं। गौतम बुद्ध को जब आत्मकल्याण का प्रकाश मिला, जब ज्ञान के शुभ्र प्रकाश से वह कृतकृत्य हो गया तो भद्रो ! क्या वह आत्मतोषी हो बैठ गया ? नहीं वह सर्वकल्याण के लिये उठ पड़ा। कठोर तप, कठिन साधना तथा चिरकाल की उपासना से प्राप्त दुर्लभ फल का भोग एकाकी गौतम ने नहीं किया अपितु पूर्ण निर्लोभ हो वह उसे घर-घर बांटने के लिये चल पड़ा। क्योंकि वह जान गया था कि एकाकी फल भोगना परमकल्याण का बाधक है।

एक दिन सच्चे साकमेधी गौतम ने देखा कि मेरे भिक्षुक शिष्य सुन्दर सुन्दर रेशमी वस्त्रों को धारण कर अपने को कृतकृत्य मान रहे हैं। साकमेध (साथ मिलकर बढ़ना) यज्ञ के सच्चे उपासक गौतम ने निर्देश दिया---भिक्षुको ! तुम्हारा सुन्दर मूल्यवान् वस्त्र धारण करना साकमेध के विरुद्ध है। तुम्हारे देश भाई नंगे भूखे क्लेशभोगी हैं तो तुम्हारा बहुमूल्य वस्त्र धारण करना पाप है। इतना कह गौतम उठे और धनियों द्वारा जिन वस्त्रों को फटे पुराने समझ बाहर फेंक दिया था उन्हें उठाया और धो साफ कर पहनना शुरू कर दिया। गौतम के इस अद्भुत कृत्य को देख शिष्यमण्डल समझ गया कि उनके मुख पर जो तेज और कान्ति है उसका कारण उनका साकमेधी होना ही है। वेदवेत्ता ऋषि याज्ञवल्क्य भी लिखते हैं—

एतैर्वै व्यजयन्त। येयमेषां जितिस्ताम्।

संसार के महापुरुषों ने जो विजयलाभ पाया, जो परम तेज को अधिगत किया, जो अक्षय मंगल का लाभ किया वह साकमेधी होने से ही सम्भव हुआ। जो साकमेधी नहीं वह चाहे कितना भी बड़ा बलवान् हो, वह चाहे कितना भी बड़ा धनवान् हो वह स्वयमेधी (अपनी ही वृद्धि करने वाला) होने से असुर है। अमृत रस के भागी तो देव हैं असुर नहीं। स्वयमेधी आज ऐश्वर्यवान् है तो कल धूल चाटता है। आज बलवान् है तो कल रोग पीड़ित हो क्लेशभागी हो जाता है। बन्धुओ आओ साथ बढने के, मिल कर उन्नति करने के पवित्र भाव को धारण कर सच्चे साकमेधी बनें जिससे वृत्रासुर हमें दास बनाने का साहस न कर सके। □□

• विंशः पथः

धन वैभव का उपयोग आत्मकल्याण के लिये कीजिये

हमने एक सेठजी से कहा—लाला जी ! भगवान् ने आपको धन दिया है कुछ विद्या की उन्नति के लिये दान दे दीजिये। कृपण सेठ बोले—आचार्य जी ! धन कहां है ? बड़ी कठिनाई से घर गृहस्थी का काम चल रहा है। हमने सेठजी की बात सच मानी और हम आगे बढ़े। अगले वर्ष गये तो हमने देखा सेठजी के सिर पर पट्टी बन्धी है। हाथ देखे तो उन पर भी पट्टी दिखाई दी। हमने पूछा—सेठ जी ! यह क्या हो गया ? सेठ जी आँखों में आंसू बहाते हुये बोले—आचार्य जी विनाश हो गया। डाकू आये और सब कुछ ले गये। लड़के को जान से मार गये। मैं भी मारा जाता तो अच्छा होता, यह दुःख न देखना पड़ता। सेठ की करुण कहानी से हमें बड़ा दुःख हुआ। भगवान् ऐसा दुःख किसी को न दे।

सेठ की बात छोड़ो। वह तो बेचारा अकिञ्चन था। डाकुओं से लड़ने की शक्ति उसमें कहाँ ? आस-पड़ोस के लोग भी बिना अस्त्र शस्त्रों के भला डाकुओं का मुकाबला क्या करते ? वे भी बलवान् अस्त्र शस्त्र धारी डाकुओं के सामने लालाजी को बचाने में असमर्थ थे।

पर इधर देखो। यह विशाल मगध साम्राज्य का अधिपति है। लाखों सैनिक इसकी रक्षा के लिये तत्पर हैं। बड़े-बड़े बुद्धिमान् मन्त्री इसकी रक्षा के उपाय सोचने वाले हैं। परन्तु आज इसके पुराने रक्षक इसे हथकड़ी लगा कारागार (जेल) की ओर लिये जा रहे हैं। अतुल ऐश्वर्य में से अब वह एक कणिका का उपयोग नहीं कर सकता। सेना और मन्त्री भी इसे बन्धनमुक्त करने में अकृतकारी हैं। कारागार की यातना से उसकी आत्मा तड़प रही है। किसी ने कहा—भाई ! तुम इतनी निर्दयता से अपने राजा का उत्पीडन क्यों कर रहे हो ? यह बहुसुखसेवी सुकुमार राजा इस दारुण व्यथा को कैसे सहन कर पायेगा ? सैनिकों ने उत्तर दिया—भद्र ! यह राजा नहीं हत्यारा राक्षस था। कितने ही निरपराध लोगों के सिर इसने कटवा दिये। कितनी ही किशोरियों के जीवन को इस अधम ने अपने सुख के लिये मिट्टी में

मिला दिये। द्विजश्रेष्ठ आचार्य चणक के द्वारा ठीक राह दिखाने पर इसी नीच ने उसका सिर कटा दिया था। देश के धन वैभव का उपयोग इसने केवल अपने ही इन्द्रिय सुख के लिये किया। अतः यह ब्रह्महत्यारा इसी यातना का अधिकारी है। एक दिन आया कि ऐश्वर्यभोगी विषयी राजा का सिर स्वयं उसके ही दासी पुत्र ने काट दिया। कितना बड़ा क्लेश, कितना महा विनाश। यह सब क्यों? क्या इस पतन तथा क्लेशमुक्ति का कोई उपाय है? है। यह देखो आचार्यवर याज्ञवल्क्य कहते हैं—

या वै देवानां श्रीरासीत्—साकमेधैरीजानानां विजिग्यानाम्। अथ यत् संवत्सरस्य रस आसीत तत् सीरम्। सा या चैव देवानां श्रीरासीत विजिग्यानां य उ च संवत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत् तमेवैतदुभयं परिगृह्यात्मन् कुरुते। तस्मात् शुनासीर्येण यजते।[1]

अर्थ—साकमेध (मिलकर उन्नति करने के भाव) से देवजनों ने जो श्री—ऐश्वर्य—अभ्युदय लाभ किया। जो कर्मसमाप्ति पर साररूप फल अधिगत किया। इसी श्री को वेदों में शुन कहा है। संवत्सर (वर्ष) के सार को ही ऋषियों ने सीर कहा है। देवजन सदा अपनी वृद्धि (श्री) और सार फल का उपयोग केवल आत्मा की उन्नति के लिये करते हैं। जो लोग अपने श्रेष्ठकर्मों के फल का उपयोग आत्मकल्याण के लिये करते हैं, वे कभी पतन का कालामुख नहीं देखते। वेदज्ञ ऋषियों ने आत्मकल्याण के लिये ही ऐश्वर्य का उपयोग करना चाहिये यह शिक्षा देने के लिये वर्ष के अन्त में शुनासीर्य यज्ञ के अनुष्ठान का उपदेश किया था। जो जन प्रतिवर्ष इस शुनासीर्य यज्ञ के द्वारा आत्मकल्याण हेतु धन वैभव के उपयोग की उत्तम शिक्षा ग्रहण करते हैं। उनकी आत्मा में निश्चयेन ऐश्वर्य के उचित प्रयोग की शक्ति जागृत होती है। अन्यथा ऐश्वर्य लाभ होते ही व्यक्ति इन्द्रियभोगों के लिये लालायित हो धर्म कार्य से विमुख हो जाता है। इन्द्रिय सुखभोग व्यक्ति को नीचे ही नीचे गिराता चला जाता है। वह धर्म से पतित हो पुनः अवश्य क्लेशभागी हो जाता है। सुखभोग के पीछे जो पड़ा समझो दुःख दानव भी उसके पीछे लग गया है। इन्द्रिय सुखभोग से वासना की आग भड़कती ही जाती है। बहुभोग के पश्चात् भी वह अन्यभोगापेक्षी देखी जाती है।

देखो! एक व्यक्ति एक सन्त के पास पहुँचा और सविनय प्रणाम कर उसने सन्त से पूछा—महात्मन्! क्या कोई ऐसा उपाय है जो धरती पर कहीं

---

१. मा. श. २-६-३-२

पैरों में कांटे ने लगे ? महात्मा बोले—भक्त भाई ! पैरों में कांटे न लगे इसके दो उपाय हैं। भक्त ने पूछा—भदन्त ! कौन से ? सन्त बोले—एक उपाय है सारी धरती पर चमड़ा फैला दो तो जहाँ भी जाओगे पैरों में कांटे नहीं लगेंगे। भक्त बोला—भदन्त ! क्या ऐसा करना कभी सम्भव होगा ? बड़े बड़े ऊँचे पर्वत, नदी नालों वाली इस धरती पर चमड़ा बिछाना तो राजा महाराजाओं के लिये भी सम्भव नहीं होगा। सन्त ने पुनः कहा—भक्त ! शायद तुम चमड़ा बिछाने में कृतकारी हो जाओ। भक्त बोला—महाराज ! सारा जीवन बीत जायेगा पर धरती पर चमड़ा नहीं बिछ पायेगा। ऐसा कष्टकारी असाध्य कर्म कोई बुद्धिमान् व्यक्ति नहीं करेगा। महाराज ! दूसरा उपाय कांटे न लगने का कहो।

महात्मा जी बोले सुनो—भद्र ! काटों से बचने का दूसरा उपाय अतिसरल है। थोड़ा चमड़ा लो और उससे जूता बनवा पैरों में पहन लो। बस धरती पर जहाँ तुम जाओगे चमड़ा पैरों में रहेगा। तुम सारी धरती पर काटों से बच जाओगे।

भक्त सन्त के इस उपाय को सुन अतिप्रसन्न हुआ। परन्तु सूक्ष्मदर्शी सन्त बोले—भाई भक्त ! पैरों के काँटों की बात तो तुमने पूछी पर मन में चुभने वाले शूलों की भी विचारणा करो। पैर में लगने वाले काटों से मन में चुभने वाले शूल अतिदारुण क्लेशप्रद है। इस दारुणव्यथा से बचना चाहते हो तो इससे भी बचने का उपाय करो।

भक्त ने कहा—महाराज ! आप ठीक कहते हैं। पैरों में जूते पहन लेने पर भी मन में लगे शूलों से महाक्लेश हो जाता है। नींद भाग जाती है। छाती जल उठती है। हे भदन्त ! मन में चुभने वाले शूलों से त्राण पाने का उपाय भी बताओ। सन्त बोले—भद्र ! इन मन के शूलों से बचने के भी दो उपाय हैं।

भक्त ने उत्सुकता से पूछा—कौन से ?

सन्त बोले—भद्र ! एक उपाय तो यह है कि जिस जिस पदार्थ की कामना मन करे वह वह पदार्थ उसे प्रदान करो। मन की कामना पूरी होने पर वह अक्लेश हो जायेगा। समझदार भक्त बोला—महात्मन् ! मन की प्रत्येक इच्छा पूरी करना तो किसी के वश की बात नहीं। वह एक इच्छा पूरी होने पर झट दूसरी इच्छा कर लेता है। पहले यह पेटभर रोटियाँ चाहता था। जब रोटियाँ मिल गईं तो वह मिष्टान्नों की कामना कर बैठा। उसे जो युवति

एक दिन अति प्यारी लगी थी कुछ दिन में उस मन को दूसरी की इच्छा हो गई। सुना है राजा बादशाहों ने हजारों औरतें रख ली पर उनके मन की कामना पूरी नहीं हुई। मन के शूल उसकी इच्छा पूरी करके कदापि दूर नहीं किये जा सकते।

सन्त बोले—भद्र! सत्य यही है कि मन की इच्छाओं की पूर्ति सारी पृथ्वी के ऐश्वर्य लाभ होने पर भी नहीं हो सकती। भक्त ने कहा—हे भदन्त! मन के दु:खदायी शूलों से बचने का फिर अन्य क्या उपाय है?

महात्मा बोले—दूसरा उपाय बहुद्रव्य साध्य नहीं। जैसे पैरों को जूते पहनाकर उन्हें काँटों से बचा लिया, ठीक उसी प्रकार संयम के घेरे से मन को बान्ध दो। जितना शरीर के रक्षण पोषण के लिये आवश्यक है, उतना पदार्थ सेवन कर शेष को पर हित में लगा दो। ऐसा संयमशील व्यक्ति सर्वत्र विचरण करता हुआ भी मानसिक शूलों से त्राण पा जायेगा। भोग की इच्छाओं को रोक देने से अपने आप क्लेशों का निवारण हो जायेगा। ऋषि महर्षि सन्त महात्मा इसी उपाय के बल से आनन्दित हैं। इसके विपरीत मन की इच्छाओं के पीछे पड़े धनी श्रेष्ठी राजा महाराजा मन के शूलों से पीड़ित रहते हैं।

महात्मा ने आगे कहा—देखो भद्र! युधिष्ठिर के राजैश्वर्य का हरण कर, भरतादि द्वारा सेवित सिंहासन का अधिकार प्राप्त कर क्या दुर्योधन के मन के शूल मिट गये? देखो एक दिन उसके ईर्ष्या से जलते मन ने सोचा चलो पाण्डवों की दुर्दशा का दर्शन कर कुछ सुख लाभ करें। दुर्योधन का अहङ्कारी मन उसे द्वैतवन में ले गया। वहाँ गन्धर्वों के राजा चित्रसेन से लड़ पड़ा और हार कर शत्रुओं के हाथ पड़ गया। पाण्डवों को जब यह समाचार मिला तो धर्मात्मा युधिष्ठिर ने अर्जुन को भेज उसे छुड़ा दिया। पाण्डवों द्वारा मुक्त करा देने पर दुर्योधन का मन शूलों से क्लेशित हो गया। वह शर्म में डूब गया। उसका सिर लज्जा से ऊपर नहीं उठा। उसका ऐश्वर्य कुछ भी त्राणदायी नहीं रहा। खुशियों के महल रेत की दीवार के समान ढह गये। महर्षि व्यास ने ऐश्वर्य से सुख लाभकामी दुर्योधन के मन के व्यथाशूल का वर्णन करते हुये लिखा—

स्त्रीसमक्षमहं दीनो बद्धः शत्रुवशं गतः
युधिष्ठिरस्योपहृतः किन्तु दुःखमतःपरम्।[1]

---

१. महाभारत वनपर्व २४८-६

हे कर्ण और शकुनि मातुल ! शत्रुवन्धन से छूट कर आये हुये मुझ को क्या बधाई देते हो। स्त्रियों के समक्ष दीन और वन्धन में पड़ा मैं युधिष्ठिर को अर्पित किया गया। हाय ! इससे वढ़कर संसार में क्या कोई दूसरा दुःख होगा। जिनका मैंने तिरस्कार और अहित किया। उन्हीं पाण्डवों ने मुझे वन्धन से मुक्त कराया। क्या इस से वड़ा दूसरा क्लेश हो सकता है ? मैं गन्धर्वो के साथ लड़ाई में मारा जाता तो ही अच्छा था। इस दशा में क्षणभर भी मेरे लिये जीना कठिन हो रहा है।

हे कर्णादि मेरे सुहृद् वीरो ! सुनो, तुम सव राजधानी में जाओ। शत्रुओं द्वारा अपमानित हो मैं हस्तिनापुर में नहीं जा सकता। मेरी आत्मा जल रही है। मेरा अब यहीं मर जाना ठीक है। मैं अन्न जल छोड़ बस यहीं प्राणत्याग कर दूंगा। शोक शूल से पीड़ितमना दुर्योधन कुशासन विछा अनशन कर मरने के लिये वैठ गया।

भद्र ! इसलिये सन्त कहते हैं मन को वशवर्ती बनाओ। मन पर नियन्त्रण रखो।

भक्त सन्त की कल्याणी वाणी श्रवण कर यथार्थ को समझ गया। सारी धरती पर चमड़ा विछाना कभी सम्भव न होगा इसलिये अपने ही पैरों पर चमड़ा लपेटो। मन के पीछे दौड़ने में दौड़ का कभी अन्त नहीं आयेगा इसलिये उसे रोको। यही सुखप्रापक रमणीय पथ है।

ऋषि राज याज्ञवल्क्य भी कहते हैं—ऐश्वर्य लाभ करना बुरा नहीं पर उसका उपभोग जब आत्मकल्याण के विपरीत इन्द्रिय सुखभोगों के लिये किया जाता है तो व्यक्ति निश्चयेन क्लेशभोगी होगा।

इन्द्रियाँ रूपी हरिणियाँ सदा सुखसस्य के भक्षण के लिये लालायित हैं। यदि उन्हें थोड़ा ढीला छोड़ा तो वे सुखभोग में डूब मनुष्य को व्यामुग्ध वना देती हैं। इसलिये ऐश्वर्य सुख का सेवन केवल आत्मकल्याण के निमित्त करना चाहिये इसी सावधानी के लिये ऋषियों ने शुनासीर्य यज्ञ के अनुष्ठान का विधान किया है। याजक इस यज्ञ द्वारा इन भावों को पुष्ट करता है कि आत्मविमुखी भोग विनाशकारी होगा। सारे वर्ष भर के श्रम से जो अग्रता प्राप्त की, सम्पूर्ण वर्ष में जो ऐश्वर्यलाभ किया उस सबका उपयोग केवल आत्मा के उत्थान के लिये करूंगा, इन्द्रियभोग के लिये नहीं। यही भाव वैदिक शुनासीर्य यज्ञ का है। महर्षि याज्ञवल्क्य निर्देश देते हैं—

तमेवैतदुभयं परिगृह्यात्मन् कुरुते।[1]

अर्थात्—शुनासीर्य यज्ञ का यजमान श्री और रस इन दोनों को आत्म-कल्याण के लिये उपयोग करता हैं। ऐसा शुनासीर्य यज्ञकर्त्ता ही सच्चे कल्याण को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति आत्मा को अनदेखा कर केवल सुखभोग में रत है वह जानो शीघ्र विनाश को प्राप्त होने वाला है।

देखों ! त्रेतायुग का इतिहास है। पुलस्त्य ऋषि चारों वेदों के ज्ञाता ब्रह्मा के पुत्र हुये। पुलस्त्य ऋषि ने गौ नामक विदुषी कन्या से विवाह कर वैश्रवण (कुवेर) नाम के पुत्र को जन्म दिया। वैश्रवण अपने दादा ब्रह्मा का स्नेह पात्र बन उन्हीं के पास रहने लगा। उसका ऐश्वर्य बहुत बढ़ गया। पुलस्त्य ऋषि वैश्रवण से अप्रसन्न हो गये। कुवेर ने पिताश्री को प्रसन्न करने के लिये उनकी सेवा हेतु तीन सेविकाएँ भेज दी। उन सेविकाओं के निरन्तर सह-वास से पुलस्त्य ऋषि के मन मर दोषावरण आ गया। सबसे बड़ी पुष्पोत्कटा नामक सुन्दरी से पुलस्त्य ने रावण और कुम्भकर्ण नामक दो पुत्र उत्पन्न किये। दूसरी मालिनी से विभीषण तथा राका नाम की तीसरी स्त्री से खर और शूर्पणखा उत्पन्न हुये। ये सभी पुत्र बड़े वीर तथा उद्योगी थे। सभी ने मिलकर अपने बड़े भाई कुवेर को जीत उसका लङ्का का राज्य तथा पुष्पकविमान ले लिया। सबसे बड़ा रावण लङ्का का राजा बना। कुवेर के अपार ऐश्वर्य का लाभ कर ये सब आत्मकल्याण से विमुख हो इन्द्रिय भोगों में लिप्त हो गये। केवल एक विभीषण आत्मदर्शी बना। इन्द्रियभोगभावों का आवेग बढ़ता गया। ये ऋषिसन्तान मांस एवं मद्यसेवी तक हो गये। पर स्त्री हरण तक का पाप कर्म इनसे नहीं बचा। इन सब का अन्त कैसे हुआ इसको आज बालक तक भी जानता है। कुल में विभीषण के अतिरिक्त कोई जलाने वाला भी इनका नहीं बचा। इसलिये तत्त्वदर्शी ऋषि ने ठीक कहा कि भाईयो ! तुम अपने श्रम-अर्जित धन वैभव शक्ति तथा बुद्धि का उपयोग आत्म कल्याण के लिये करो। अन्यथा सब कुछ होने पर भी दुःख सागर में गिरने से नहीं बचोगे। यही चातुर्मास्य यागों में अन्तिम शुनासीर्य यज्ञ का उत्तम भाव है।

॥ इत्योम् ॥

१. मा. श. २-६-३-२

पाणिनिधाम : एक परिचय

राजस्थान की मरुभूमि में पुष्कर क्षेत्र का एक विशिष्ट स्थान है। चारों तरफ से पर्वतमालाओं द्वारा घिरा यह क्षेत्र मधुर एवं स्वास्थ्यप्रद जल से युक्त है। गुलाब के फूलों की यह घाटी सदा महकती रहती है। बहुविध वृक्षों के बड़े-बड़े उद्यान भी इस क्षेत्र की रमणीयता बढ़ाते हैं। वर्षा ऋतु में यह पुष्कर क्षेत्र अपनी अद्भुत छटा से दर्शकों को मोहित कर लेता है। कभी इसी क्षेत्र के पर्वतों से निकली सरस्वती नामक नदी सदा नीरा होकर बहती थी। महाभारतादि ग्रन्थों में इस पुष्कर क्षेत्र को ऋषियों की तपोभूमि बताया है। इसी क्षेत्र में अजमेर से नागौर, बीकानेर आदि नगरों को जाने वाले राजमार्ग (सड़क) पर पुष्कर से पाँच कि. मी. आगे तिलोरा ग्राम आता है। इसी तिलोरा ग्राम की भूमि में सरस्वती नदी के उत्तर तट की ओर किसनपुरा मार्ग पर पाणिनिधाम की स्थिति है।

पाणिनिधाम का मुख्य कार्य—

वेद प्रभु की सर्वज्ञानमयी पवित्र वाणी है। सर्वोत्तम आध्यात्मिक विद्या तथा भूतविज्ञान के सब बीज सूत्र वेदों में वर्तमान है। वेदों के यथार्थ बोध के लिये पाणिनि मुनि का व्याकरण प्रथम स्थानीय है। बिना पाणिनि व्याकरण के वैदिक वाक् का रहस्य कदापि ज्ञात नहीं हो सकता। पाणिनिधाम में पाणीनीय व्याकरण के सम्पूर्ण अध्ययन की व्यवस्था है। पाणिनिधाम में मेधावी सुशील जिज्ञासु छात्रों को ही प्रवेश दिया जाता है। वे ही छात्र इस पाणिनिशाला में प्रवेशार्ह है जो अपना सम्पूर्ण जीवन वेदों के अध्ययन तथा उसके प्रचार-प्रसार के लिये अर्पण करने के लिये उद्यत हों। भोजन छादन की उत्तम व्यवस्था पूर्णरूपेण पाणिनिधाम सञ्चालन समिति करती है। अभी केवल पाँच छात्रों की अध्ययन व्यवस्था की गई है। उच्चकोटि के वैदिक विद्वान् तैयार करने की पाणिनिधाम प्रथम कड़ी है। आप पाठक भी इस योजना को सफल बनाने में योगदान करकें पुण्य के भागी बने। आप योग्य मेधावी होनहार छात्र को पाणिनिधाम के अर्पित करके वैदिक धर्म की सर्वोत्तम सेवा कर सकते हो।

(२) किसी होनहार वैदिक विद्वान् बनने वाले छात्र के लिये मासिक सहायता देकर आप इस कार्य में सहयोगी बन सकते हैं। एक छात्र पर अनुमानतः वर्तमान में पाँच सौ रुपये प्रतिमास व्यय आता है। अनेक मेधावी छात्र वेदों के लिये अपना जीवन अर्पण करने को उद्यत हो जाते हैं पर धन

के अभाव में उनको पढ़ाना सम्भव नहीं हो पाता। आप १००, २०० रु. प्रतिमास छात्रवृत्ति देकर या सम्पूर्ण भार वहन करके इस अभाव की पूर्ति कर सकते।

सहायता इस पते पर भेजे—आचार्य पाणिनिधाम (पुष्कर क्षेत्र)
ग्राम पो. तिलोरा, जि. अजमेर, राजस्थान

शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थों के व्याख्यान की महती योजना—

वेदों का सबसे विस्तृत ऋषि प्रणीत व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। याज्ञिक प्रक्रिया (प्रतीकात्मक) द्वारा मन्त्र व्याख्या की यह पद्धति प्राचीनकाल में अतिरोचिष्णु एवं सुखग्राह्य थी। परन्तु वर्तमान में परम्परा विलोप के परिणामस्वरूप ब्राह्मणग्रन्थ अति दुर्बोध हो गये हैं। दुर्बोध ही नहीं अपितु आर्ष परम्परा के लुप्त होने से बेसमझ लोगों ने ब्राह्मण के व्याख्यान को अन्यथा समझ कर अर्थ का अनर्थ कर दिया। जिन विद्वानों ने इन ग्रन्थों को गहराई से पढ़ा उन सब ने इन ग्रन्थों को उच्चकोटि के विज्ञान ग्रन्थ बताया। अभी तक भी इन विज्ञानपूर्ण वेदव्याख्यानग्रन्थों का याथातथ्येन व्याख्यान नहीं हो पाया है। मैंने पूज्यपाद गुरुवर्य स्वामी समर्पणानन्दजी के संसर्ग से इन ग्रन्थों के विज्ञान का कुछ संकेत लाभ किया। मैं गत २० वर्ष से शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थ, मीमांसा एवं श्रौत सूत्रों के अनुशीलन में संलग्न हूँ। चिरकालीन स्वाध्याय के पश्चात् मैं जो कुछ इन ग्रन्थों में समझ पाया, मैंने उसको लिखने का उद्योग शुरू कर दिया है। सर्वप्रथम में एक भूमिका रूप ग्रन्थ लिख रहा हूँ जिसमें विस्तार से ब्राह्मणग्रन्थों प्रतिपाद्य पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। यह ग्रन्थ लगभग ६०० पृष्ठों में पूरा होगा और अपने विषय का अद्भुत ग्रन्थ होगा। मैं इसे शीघ्र पूरा करने में संलग्न हूँ। इसके पश्चात् भाष्य का कार्य आरम्भ किया जायेगा। यह कार्य अति श्रम साध्य तथा धन साध्य है। ब्राह्मणग्रन्थों को समझने के लिये उनका बार-बार स्वाध्याय ही पर्याप्त नहीं अपितु अनेक सहायक ग्रन्थों का अध्ययन भी अपेक्षित है। ये सब ग्रन्थ आजकल बहुत मूल्य से प्राप्त होते हैं। फिर लिखे हुये ग्रन्थ को प्रकाशित करना ततोऽपि कठिन है। ६०० पृष्ठ के ग्रन्थ को प्रकाशित करने के लिये आज लक्षाधिक धन की अपेक्षा है। क्या पवित्र वेदविद्या के लिये आप अपने (धन) का कुछ अंश अर्पित करने का साहस नहीं कर सकते?

वैदिक धर्म का सेवक
वेदपाल सुनीथ
(पाणिनिधाम)



लेखक के अन्य प्रकाशित ग्रन्थ

(१) शतपथ के दशपथ (प्रथम भाग) मूल्य १५ रु. सजिल्द २० रु.

देवयाजी श्रेष्ठ या आत्मयाजी, देवों का राक्षस हन्ता महान् शास्त्र, देवी प्रजा आदि शतपथ के दस विभिन्न प्रसङ्गों की रोचिष्णु एवं प्रेरक व्याख्या पाठकों ने इन शतपथ व्याख्या की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। पढ़ने वाले को व्याख्या निश्चित रूपेण प्रभावित करती है।

(२) शतपथब्राह्मण और गौ—मूल्य ५ रु.

इस लघु ग्रन्थ में गौ के विषय में प्रचारित उन मिथ्याधारणाओं का सप्रमाण प्रत्याख्यान किया है, जिनसे वैदिक ऋषियों द्वारा गोमांस भक्षण का समर्थन किया जाता है। महाराष्ट्र के वैदिक विद्वान् इस ग्रन्थ को पढ़कर अति प्रभावित हुये और वे इसको मराठी अनुवाद कर प्रकाशित कर रहे हैं। जिज्ञासु पाठक अवश्य पढ़े।

(३) दर्शपूर्णमासेष्टि रहस्य प्रकाश—मूल्य ७ रु.

अमावस्या तथा पूर्णमासी को किये जाने वाली इष्टिओं की विधि-विधान की शतपथ ब्राह्मण के आधार पर व्याख्या की गई है। सान्नाय्य एवं पुरोडाश का वास्तविक स्वरूप क्या है ? सामिधेनियों का रहस्य आदि समस्त प्रमुख विधानों की व्याख्या आप इस ग्रन्थ में पढ़ सकते हैं। इस ग्रन्थ का मराठी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

(४) शतपथसुभाषित—मूल्य ५ रु.

शतपथ के २० सुभाषित (वचनों की सरल एवं मनोहारी व्याख्या की गई है)।

(५) वैदिक सोम विमर्श—मूल्य ५ रु.

सोमयोग में दिये जाने वाले सोमरस की आहुतियों का वास्तविक अभिप्राय तथा सोम के सही अर्थ का विचार इस शोध लेख में किया गया है।

प्राप्ति स्थान :

प्राच्य—वैदिक विद्या अनुसंधान पीठ

पाणिनिधाम (पुष्कर क्षेत्र)

प्रा. पो. तिलोरा, जिला—अजमेर (राजस्थान)—३०५०२२

